हरिः ॐ

॥ श्रीमदभिनवचन्द्रेश्वरो विजयतेतमाम् ॥

श्री कैलासविद्यालोकस्य सप्तत्रिंशः (३७) सोपानः

प्रश्नोपनिषत्

आनन्दगिरिकृतटीकासंवलितशाङ्करभाष्यसमेता

'गोविन्दप्रसादिनी' टिप्पणीकार विद्यावाचस्पति

महामण्डलेश्वर स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरिजी महाराज

'विद्यानन्दीमिताक्षरा' व्याख्याकार वेदान्त-सर्वदर्शनाचार्य यतीन्द्रकुलतिलक श्रीकैलासपीठाधीश्वर

महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्द गिरिजी महाराज

सम्पादक

डॉ० उमेशानन्द शास्त्री

एम. ए, एल. एल. बी., पी. एच. डी., व्याकरणाचार्य

स्वामी निश्चलानन्द गिरि

ॐ

Shri Kailas Vidya Prakashan Series—37

PRASHNOPANISHAD

(ATHARVANAVEDA)

WITH

[SHANKARABHASHYA & ANANDAGIRI TEEKA]

ALSO WITH

GOVINDAPRASADINEE TIPPANI

BY

Vidya Vachaspati Mahamandaleswara

SHRI SWAMI VISHNU DEVANANDA GIRIJI MAHARAJ

AND

HINDI COMMENTARY

BY

Vedanta Sarvadarshanacharya Kailas Peetha-dheeshwara Acharya Mahamandaleswara

Shri Swami Vidyananda Giriji Maharaj

EDITED BY

Dr. Umeshananda Shastri

M.A., LL. B., Ph. D.

Swami Nischalananda Giri

PUBLISHED BY

Shri Kailas Vidya Prakashan, Rishikesh

1995

सम्पादकीय

श्री कैलास आश्रम शताब्दी समारोह महासमिति द्वारा पारित उद्देश्यों में 'दुर्लभ ग्रन्थों का प्रकाशन' ही एक ऐसा उद्देश्य था जो समयसाध्य एवं मुमुक्षुओं के लिए परम उपयोगी सिद्ध हुआ। इस प्रकाशन की शृङ्खला में सम्प्रति प्रश्नोपनिषत् को पाठकों के समक्ष प्रस्तुत करते हुए मुझे पर्याप्त सन्तोष हो रहा है। श्रीमत्परमहंस परिव्राजकाचार्य श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ यतीन्द्रकुलतिलक कैलास-पीठाधीश्वर आचार्य-महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्दगिरि जी महाराज के सत्य संकल्पों का ही यह मूर्त रूप है।

अन्य उपनिषदों की भाँति प्रश्नोपनिषत् में दुर्बोध्य अध्यात्म विद्या को गुरु-शिष्य सम्वाद रूप प्रश्नोत्तर द्वारा सरल ढंग से समझाने का प्रयास किया गया है। महर्षि पिप्पलाद अपने समय के अद्वितीय ब्रह्मनिष्ठ महापुरुष रहे हैं, उनके पास ब्रह्मविद्या प्राप्ति हेतु छः जिज्ञासु एक-साथ मिलकर समित्पाणि होकर गये। उन महानुभावों के नाम थे :—(१) भारद्वाज का पुत्र सुकेशा, (२) शिबि का पुत्र सत्यकाम, (३) सूर्य का पौत्र गर्ग-गोत्रोत्पन्न गार्ग्य, (४) अश्वल का पुत्र कौशल्य, (५) भृगु गोत्रोत्पन्न विदर्भदेशीय वैदर्भी एवं (६) कत्य का प्रपौत्र कबन्धी।

प्रश्न पूछने में विपरीत क्रम चला सबसे पहले कात्यायन कबन्धी ने प्रश्न किया एवं अन्त में भारद्वाज के पुत्र सुकेशा ने अपनी जिज्ञासा शान्त की। प्रश्न तो सीधे-सादे हैं किन्तु उत्तर गहन चिन्तन की दिशा देते हैं। सृष्टि स्थिति एवं प्रलय, उनके नियामक की चर्चा व उसका स्वरूप क्या है, इन्हीं बातों का समाधान किया है। संक्षेप में छः प्रश्न व उनके उत्तर इस प्रकार वर्णित किये गए हैं :—

प्रथम प्रश्न—ये प्रजा किससे उत्पन्न होती हैं (कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति १-३)।

समाधान—अन्न ही प्रजापति है, वह वीर्य होता है और उस वीर्य से यह प्रजा उत्पन्न होती है (अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मादिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति १-१४)।

द्वितीय प्रश्न—प्रजा को कितने देवता धारण करते हैं, कौन इसे प्रकाशित करते हैं और इन देवों में कौन प्रधान है (कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते कतर एतत्प्रकाशयन्ते कः पुनरेषां वरिष्ठ इति २-१)।

समाधान—आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, वाक्, मन, चक्षु और श्रोत्र वे देव हैं किन्तु सब कुछ प्राण के अधीन है (आकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च २-२ प्राणस्येदं वशे सर्वम् २-१३)।

तृतीय प्रश्न—यह प्राण किस कारण विशेष से उत्पन्न होता है, किस व्यापार विशेष से किस शरीर में आता है, उत्क्रमण क्यों करता है और किस प्रकार बाह्य तथा आभ्यान्तर शरीर को धारण करता है (कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिञ्शरीर आत्मानं वा विभज्य कथं प्रतिष्ठिते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ३-१)।

समाधान—आत्मा से यह प्राण उत्पन्न होता है (आत्मन एष प्राणो जायते ३-३)।

चतुर्थ प्रश्न—इस पुरुष में कौन इन्द्रियाँ सोती हैं, कौन इसमें जागती हैं, किसे यह सुख होता है, किसमें ये सभी इन्द्रियाँ प्रतिष्ठित होती हैं (एतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिञ्जाग्रति कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यति कस्यैतत्सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति ४-१)।

समाधान—यह सब कुछ आत्मा में संप्रतिष्ठित है (तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते ४-७)।

पंचम प्रश्न—मरणपर्यन्त ओंकार का चिन्तन करे तो किस लोक को जीतता है (स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत । कतमं वाव लोकं जयतीति ५-१) ।

समाधान—इस लोक को प्राप्त होता है जो स्थूल, सूक्ष्म, प्रपञ्च से रहित अजर, अमर, अभय एवं सबसे परे है (तमोंकारेणैवाऽऽयतनेनान्वेति विद्वान्यत्तच्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ५-७) ।

षष्ठ प्रश्न—सोलह कला वाले पुरुष को जानते हो, (षोडशकलां पुरुषं वेत्थ ६-१) ।

समाधान—सब कलाएँ जिसमें स्थिति रहती हैं, उस ज्ञातव्य पुरुष को जानो (कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः । तं वेद्यं पुरुषं वेद ६-६) ।

भाष्यकार भगवान् शकराचार्य ने उपरोक्त सारगर्भित मन्त्रों के भाष्य में प्रसन्न एव गम्भीर गुण को उत्तरोत्तर उत्कर्षता दिखाई है । सिद्धान्त की पुष्टि के लिए अन्य श्रुतियों का पर्याप्त आश्रय लिया है । शान्त प्रपञ्च रहित साम्राज्य में तर्क का प्रवेश उन्हें अब ज्यादा अच्छा नहीं लगता । "न तार्किकचाटभटप्रवेशो वेदान्तराजप्रमाणबाहुगुप्त इहात्मैकत्वाविषय इति" तार्किकों के विवाद में न पड़ कर अपनी बुद्धि को निश्चयात्मिका बनाये रखने में ही भलाई है । उन्हीं के शब्दों में—

"विवदत्स्वेव निक्षिप्य विरोधोद्भवकारणम । तं संरक्षितपद्बुद्धिः सुखं निर्वाति वेदवित्" ।।

आनन्द गिरि टीकाकार भी आचार्य शंकर के अद्वैत सिद्धान्त को व्यवहार एवं परमार्थ का सामञ्जस्य करते हुए ग्रन्थ-ग्रन्थि भेदन में अपनी ब्रह्मनिष्ठा का सहज परिचय देते हैं । "कल्पनया स्वव्यतिरिक्तस्य जीवस्य सत्त्वात्तस्य संसारो नात्मनः । तदीयकर्मफलदानार्थं चाऽऽप्तकामस्यापि सृष्ट्यादिप्रवृत्तिः संभवति । सर्वव्यवहारस्यापि स्वप्नतुल्यत्वाद्वा स्वप्न इव सर्वमप्युपपद्यत इति" (पृ. १०४)

पूज्य स्वामी विष्णुदेवानन्द गिरि जी महाराज की टिप्पणी तो स्थल-स्थल पर वेदान्त तत्त्व-रसिकों को आह्लादित करती है । ब्रह्मवेत्ताओं की उपनिषद् काल में भी कमी थी तभी तो राजकुमार हिरण्यनाभ तत्त्ववेत्ता की तलाश में भारद्वाज के पास गया किन्तु वे उनकी जिज्ञासा शान्त नहीं कर पाए । भारद्वाज बोले—यदि मैं षोडशकल पुरुष को जानता होता तो तुझ सर्वगुणसम्पन्न शिष्य को अवश्य बताता "समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति तस्मान्नार्हाम्यनृतं वक्तुम्" । इस भोग-प्रधान समय में भी निवृत्तिपरायण श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ की सुलभता का श्रेय श्री कैलास आश्रम ऋषिकेश को ही है । इनकी अद्वैत निष्ठा एवं ब्रह्मात्मैक्य अनुभूति की झलक इनके विचारों में पद-पद पर दृष्टिगोचर होती है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन में पूर्व-प्रकाशित उपनिषद ग्रन्थों का ही क्रम रखा गया है । पृष्ठ के शिरोभाग में मन्त्र उसके नीचे मन्त्र की हिन्दी, शांकर भाष्य, आनन्दगिरि टीका, भाष्य की हिन्दी व्याख्या एवं सबसे नीचे टिप्पणी जिनके प्रतीक ऊपर दिए हुए हैं । श्री कैलास आश्रम के मनीषियों की इस सुरक्षित धरोहर को सर्वसाधारण की सेवा में लाकर हम उस दुर्लभ ब्रह्मविद्या को सर्वजनोपयोगी बना पाए हैं । हालाँकि इसके अधिकारी बहुत कम देखे जाते हैं किन्तु जिन्हें इसके रसास्वादन का आनन्द मिलने लगता है वे पूर्णता की ओर उत्तरोत्तर बढ़ने के लिए कृतसंकल्प हो जाते हैं । सम्पादन में अनवधानता वशात् जो भी त्रुटियां रह गई हों उसे विज्ञजन क्षमा करेंगे । भगवती मन्दाकिनी के आश्रय में रहने का प्रलोभन एवं आशुतोष भगवान् शंकर की कृपा से ही इतनी जल्दी यह प्रकाशन सम्भव हुआ और अन्त में त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये । श्री कृष्णार्पणमस्तु ।

भगवदीय

डॉ० उमेशानन्द शास्त्री

प्रस्तावना

दिशन्तु शम्मे गुरुपादपांसवः

"नवधा भेदितोऽथर्वः" इस सूतसंहिता के वाक्यानुसार अथर्ववेद की नव शाखायें मानी गयी हैं, जिनमें मुण्डकशाखीय मन्त्रभाग की मुण्डकोपनिषत् है। इसमें परा और अपरा विद्या का विशद वर्णन किया गया है। इन्हीं दोनों विद्याओं में प्रवेश की योग्यता प्राप्त कराने के लिए अथर्ववेदीय ब्राह्मणभाग के अन्तर्गत प्रश्नोपनिषत् कही गयी है। ऐसा प्रश्नोपनिषत् का भाष्य प्रारम्भ करते समय आद्य शङ्कराचार्य भगवत्पाद ने कहा है।

इस प्रश्नोपनिषद् में सभी छः खण्ड हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में सुकेशादि छः ऋषिकुमारों ने महर्षि पिप्लाद के पास जा कर ब्रह्मविद्या के लिये प्रश्न किये। महर्षि पिप्लाद ने एक वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य पालन पूर्वक गुरुकुल वास करने की आज्ञा दी, जिससे एक तो यह अर्थ सिद्ध होता है सहसा प्रश्नोत्तर द्वारा यथार्थतत्त्व का बोध नहीं होता; किन्तु संयम पूर्वक गुरुशुश्रूषा से शिष्य में विद्या ग्रहण की योग्यता आती है। दूसरी बात यह है कि शिष्य की परीक्षा के बिना गुरु को विद्या का उपदेश नहीं करना चाहिये। अनधिकारो को किया हुआ उपदेश व्यर्थ जाता है; इतना ही नहीं, प्रत्युत कभी-कभी हानिकारक भी हो जाता है। अतः शिष्य के अधिकार को समझ कर योग्यतानुसार उसे उपदेश करना चाहिये। सम्वत्सर पर्यन्त गुरुकुल वास क पश्चात् ऋषिकुमारों ने पृथक्-पृथक् प्रश्न किया और महर्षि पिप्पलाद के समाधान से सभी कृत-कृत्य हो गये। इन्हीं ६ सम्वादों को प्रश्नोपनिषत् के नाम से कहा गया है।

उनमें से प्रथम प्रश्न में प्रजापति से रयि और प्राण के द्वारा चराचर जगत् की उत्पत्ति कही गयी है। प्रत्येक वस्तु की उत्पत्ति उसके अनुरूप दो कारणों के संयोग से होता है, ऐसा आज भी देखा जाता है। इस रहस्य को जानने वाला पुरुष ही प्रजापति व्रत का आचरण करते हैं और उन्हें दृष्टफल पुत्र-पुत्री की प्राप्ति एवं पितृयाणमार्ग द्वारा चन्द्रलोक को प्राप्ति कहो गयो है; किन्तु जो उत्तरमार्गावलम्बी होते हैं, उन्हें विशुद्ध ब्रह्मलोक प्राप्त होता है। जिनमें कुटिलता, मिथ्या-भाषण और कपट नहीं है, उन्हीं को विशुद्ध ब्रह्मलोक मिलता है।

दूसरे प्रश्न में स्थूलदेह के प्रकाशक तथा धारण प्राण का निरूपण किया गया है। प्राणोपासना की स्तुतिरूप में प्राणसम्वाद नामक आख्यायिका द्वारा इन्द्रियों की अपेक्षा मुख्य प्राण को श्रेष्ठ कहा गया है।

तीसरे प्रश्न में प्राण को स्थिति और लय का विचार किया गया है। पुरुष की छाया की भाँति आत्मा से प्राण की अभिव्यक्ति होती है और जैसे सम्राट् विभिन्न स्थानों में अधिकारियों को नियुक्त कर उनके अधिपतिरूप से स्वयं स्थित रहता है, ठीक वैसे ही विभिन्न अङ्गों में अपने ही स्वरूपभूत अन्य प्राणों को नियुक्त कर प्राण स्वयं उनका शासन करता है। साथ ही यह भी कहा गया है कि मरण काल में मनुष्य के सकल्पानुसार प्राण ही जीव को विभिन्न लोक में ले जाता है। प्राण के इस रहस्य को जानकर उसकी उपासना करने वाले ब्रह्मलोक में जाकर क्रममुक्ति को प्राप्त करते हैं।

चतुर्थ प्रश्न में स्वप्नावस्था का वर्णन है। स्वप्न काल में सूर्य की किरणों की भाँति सभी इन्द्रियाँ मन में लीन हो जाती हैं, केवल प्राण जागता रहता है। वहाँ पर प्राण के विभिन्न भेदों में

गार्हपत्यादि की कल्पना की गयी है और उसमें अग्निहोत्र की भावना बतलायी गयी है। उस स्वप्नावस्था में पूर्ववासनानुसार मन ही अपनी महिमा का अनुभव करता है। तत्पश्चात् पित्त नामक सौर तेज से अभिभूत हो स्वप्नावस्था से निवृत्त होकर सुषुप्ति में प्रविष्ट हो जाता है। आत्मा का सोपाधिक रूप द्रष्टा-श्रोता इत्यादि है और निरुपाधिक स्वरूप परब्रह्म से अभिन्न है, उस परब्रह्म को जानकर पुरुष परब्रह्म ही हो जाता है।

पञ्चम प्रश्न में पर और अपर ब्रह्म के प्रतीकरूप से ओंकार का वर्णन किया गया है। अपर-ब्रह्म की उपासना से क्रममुक्ति और परब्रह्म की उपासना से सद्योमुक्ति कही गयी है। साथ ही एक, दो अथवा तीन मात्राओं की उपासना से भिन्न-भिन्न फल की प्राप्ति भी कही गयी है।

अन्तिम षष्ठ प्रश्न में मुक्तावस्था में प्राप्त होने वाले निरुपाधिक ब्रह्म का प्राणादि सोलह कलाओं के आरोप पूर्वक प्रत्यगात्मरूप से प्रतिपादन किया गया है। इस प्रसंग में भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर ने आत्मा के सम्बन्ध में विभिन्न मतावलम्बियों की कल्पनाओं का खण्डन कर वेदान्तमत की स्थापना की है। इस प्रकार परब्रह्म की अपेक्षा अपरब्रह्म के स्वरूप का विवेचन विशेषरूप से इस उपनिषद् में किया गया है जो मन्त्रभाग की मुण्डकोपनिषद् में विशदरूप से बतलाये गये परब्रह्म के तत्त्वज्ञान की योग्यता कराने के लिये है। यही प्रश्नोपनिषद् का संक्षिप्त तात्पर्य है।

❋ प्रकृत संस्करण की विशेषता ❋

प्रश्नोपनिषत् शांकरभाष्य आनन्दगिरि टीका सहित कई बार प्रकाशित हो चुकी है, जिनमें आनन्दाश्रम पुणे से प्रकाशित संस्करण सर्वोत्तम माना जाता है; किन्तु उसमें शांकर भाष्य की हिन्दी व्याख्या न होने के कारण सामान्य जिज्ञासुओं के लिए वह प्रकाशन उपयोगी सिद्ध नहीं हुआ और अब तो आनन्द आश्रम का प्रकाशन भी दुर्लभ हो गया है, ऐसी स्थिति में पाठकों की ओर से बार-बार यह माँग आ रही थी कि अन्य उपनिषदों की भाँति प्रश्नोपनिषत् का भी अभिनव संस्करण कैलास विद्या प्रकाशन की ओर से निकाला जाय। तदनुसार मूल मन्त्र, उसकी हिन्दी विद्यानन्दी मिताक्षरा, शांकरभाष्य, उसकी आनन्दगिरि टीका तथा हिन्दी व्याख्या और कैलास आश्रम की प्राचीनतम गोविन्द प्रसादिनी टिप्पणी के सहित यह अभिनव संस्करण हम पाठकों के समक्ष प्रस्तुत कर रहे हैं। इस गौरव-पूर्ण कार्य में कैलास आश्रम की प्राचीनतम टिप्पणियों का प्रेस कापी करने तथा भाष्य की हिन्दी व्याख्या करते समय हमारे विचारों को लिपिबद्ध करने में वेदान्ताचार्य श्री ब्रह्मचारी रामानन्द शास्त्री जी ने अक्लान्त परिश्रम किया है। डॉ० श्री उमेशानन्द शास्त्री जी ने इसके सम्पादन में सफल प्रयत्न करते हुए अपनी कार्यक्षमता का अपूर्व परिचय दिया है। हम इन सभी महानुभावों की हृदय से मंगल कामना करते हैं। साथ ही पाठकों से यह आशा करते हैं कि प्रश्नोपनिषत् के इस अपूर्व संस्करण को अपनाकर अपने जीवन को सफल बनायें। इत्योंशम्।

भगवत्पादीय
महामण्डलेश्वर स्वामी विद्यानन्द गिरि
कैलास आश्रम, ऋषिकेश (उ० प्र०)

महात्मा गान्धी जयन्ती
वि० सं० २०३६

प्रश्नोपनिषत् विषयानुक्रमणिका

प्रथम प्रश्न

प्रस्तावना भाष्य १
सुकेशादि ऋषियों का महर्षि पिप्पलाद के पास जाना २
प्रजा उत्पत्ति के विषय में कबन्धी का प्रश्न ४
प्रजापति से सर्वप्रथम रवि और प्राण की उत्पत्ति ५
सूर्य और चन्द्र में प्राण तथा रयि दृष्टि ६
सम्वत्सरादि में प्रजापति आदि की दृष्टि ९
आदित्य सर्वाधिष्ठान है १३
मासादियों में प्रजापति आदि की दृष्टि १५
मासरूप प्रजापति की दिन-रात्रि में समाप्ति १६
अन्न में प्रजापति की दृष्टि १७
प्रजापति व्रत का फल १८
उत्तरमार्गगामी की गति १९

द्वितीय प्रश्न

प्रजा को धारण करने वाले देवगण कौन-कौन हैं २०
आकाशादि शरीर के आधार हैं २२
प्राण के प्राधान्य में दृष्टान्त २३
प्राण सबका आश्रम है २६
प्राण की स्तुति २६

तृतीय प्रश्न

प्राण के सर्गादि प्रकार का प्रश्न ३२
महर्षि पिप्पलाद का उत्तर ३३
प्राण की उत्पत्ति ३४
इन्द्रियों का अधिष्ठाता प्राण ३४
पंच प्राण की स्थिति ३५
सूक्ष्म देह की स्थिति ३६
मरणोत्तर प्राणोत्क्रमण का प्रकार ३८
अधिदैवत रूप बाह्य प्राणादि का वर्णन ३८
मरणकालिक संकल्प का परिणाम ४१
परमात्मा से प्राण की उत्पत्ति ४३

चतुर्थ प्रश्न

सुषुप्ति में सोने वाला और जागने वाला कौन है ? ४४
आत्मा ही इन्द्रियों का लय स्थान है ४८
सुषुप्त काल में जागने वाले प्राणादि गार्हपत्यादि अग्नि तुल्य है ५०
प्राणाग्नि के ऋत्विक् ५१
स्वप्नद्रष्टा की महिमा ५३
सुषुप्ति में जीव परमात्मा को प्राप्त कर लेता है ६५
अक्षर ब्रह्म के ज्ञान का फल ६७

पञ्चम प्रश्न

ओंकर उपासक किस लोक को प्राप्त करता है ६८
ओंकार उपासना से पर और अपर ब्रह्म की प्राप्ति ७०
एक मात्रा विशिष्ट ओंकार उपासना का फल ७१
द्विमात्रा विशिष्ट ओकार उपासना का फल ७३
त्रिमात्रा विशिष्ट ओंकार उपासना का फल ७४
ओंकार की तीन मात्राओं का वैशिष्टय ७७
ऋगादि वेद तथा ओंकार से प्राप्त होने वाले लोकों का वर्णन ७८

षष्ठ प्रश्न

सोलह कला वाला पुरुष कौन है ८०
षोडशकल पुरुष शरीर में रहता है ८३
ईक्षणपूर्वक जगत् की सृष्टि ९५
सृष्टि का क्रम १०५
समुद्र के समान सम्पूर्ण जगत् का आश्रय परमात्मा है १०७
मरणदुःख की निवृत्ति में ब्रह्मज्ञान का उपयोग ११०
उपसंहार ११०
आचार्य को वन्दना १११

—❀—

अथास्याः प्रश्नोपनिषदो मन्त्रप्रतीकानां वर्णानुक्रमणिका

मन्त्रप्रतीकानि	मं.	प्रश्न.	पृ.
अ.			
अत्रैष देवः स्वप्ने	५	४	५४
अथ कबन्धी कात्यायनः	३	१	४
अथ यदि द्विमात्रेण	४	५	७३
अथ हैनं कौसल्यः	१	३	३२
अथ हैनं भार्गवः	१	२	२१
अथ हैनं शैब्यः	१	५	६८
अथ हैनं सुकेशा	१	६	८०
अथ हैनं सौर्यायणी	१	४	४४
अथाऽऽदित्य उदयन्	६	१	७
अथैकयोर्ध्व उदानः	७	३	३७
अथोत्तरेण तपसा	१०	१	१२
अन्नं वै प्रजापतिः	१४	१	१७
अरा इव रथनाभौ	६	२	२६
अरा इव रथनाभौ	६	६	१०९
अहोरात्रो वै प्रजा-	१३	१	१६
आ.			
आत्मन एष प्राणः	३	३	३३
आदित्यो ह वै प्राणः	५	१	६
आदित्यो ह वै बाह्यः	८	३	३८
इ.			
इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा	९	२	२८
उ.			
उत्पत्तिमायतिम्	१२	३	४३
ऋ.			
ऋग्भिरेतं यजुर्भिः	७	५	७८
ए.			
एतद्वै सत्यकाम	२	५	६९
एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा	९	४	६५
एषोऽग्निस्तपति	५	२	२५
त.			
तद्ये ह वै तत्	१५	१	१८

मन्त्रप्रतीकानि	मं.	प्रश्नः	पृ.
तस्मै स होवाच	४	१	५
,, ,, ,, ...	२	२	२२
,, ,, ,, ...	२	३	३३
,, ,, ,, ...	८	४	४८
,, ,, ,, ...	२	६	८३
तान्वरिष्ठः प्राणः	३	२	२३
तान्ह स ऋषिः	२	१	३
तान्होवाचैतावत्	७	६	११०
तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः	६	५	७७
तेजो ह वाव उदानः	९	३	४०
ते तमर्चयन्तः	८	६	१११
तेषामसौ विरजः	१६	१	१९
द.			
देवानामसि वह्नितमः	८	२	२७
प.			
पञ्चपादं पितरम्	११	१	१३
परमेवाक्षरम्	१०	४	६६
पृथिवी च पृथिवी-	८	४	६३
पायूपस्थेऽपानम्	५	३	३५
प्रजापतिश्चरसि	७	२	२६
प्राणस्येदं वशे	१३	३	३१
प्राणाग्नय एवैतस्मिन्	३	४	५०
भ.			
भद्रं कर्णेभिः		१	१
म.			
मासो वै प्रजापतिः	१२	१	१५
य.			
य एवं विद्वान्प्राणम्	११	३	४२
यच्चित्तस्तेनैष प्राणम्	१०	३	४१
यथा सम्राडेव	४	३	३४
यदा त्वमभिवर्षसि	१०	२	२९
यदुच्छ्वासनिश्वासौ	४	४	५१
यः पुनरेतं त्रिमात्रेण	५	५	७४
या ते तनूर्वाचि	१२	२	३०

मन्त्रप्रतीकानि	मं.	प्रश्नः	पृ.
व.			
विज्ञानात्मा सह	११	४	६७
विश्वरूपं हरिणम्	८	१	६
व्रात्यस्त्वं प्राणैक-	११	२	२६
स.			
स ईक्षांचक्रे	३	६	६५
स एष वैश्वानरः	७	१	८
स प्राणमसृजत	४	६	१०५
स यथेमा नद्यः	५	६	१०७
स यदा तेजसा	६	४	६१
स यथा सोम्य	७	४	६२
स यद्येकमात्रम्	३	५	७१
संवत्सरो वै प्रजापतिः	६	१	१०
सुकेशा च भारद्वाजः	१	१	२
सोऽभिमानादूर्ध्वम्	४	२	२४
ह.			
हृदि ह्येष आत्मा	६	३	३६

इतीयं मन्त्रवर्णानुक्रमणिका ।

—※—

ॐ तत्सद्ब्रह्मणे नमः ।

प्रश्नोपनिषत्

सटिप्पणटीकाद्वयसंवलितशाङ्करभाष्यसमेता

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः । भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाँ सस्तनूभिः । व्यशेम देवहितं यदायुः ।।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ।

भावः—हे देवताओ ! (आपकी कृपा से) हम कानों के द्वारा कल्याणप्रद शब्दों को सुनें । आँखों से कल्याणप्रद दृश्य देखें । वैदिक यागादिक कर्म में हम समर्थ होवें तथा दृढ़ अवयवों और शरीरों से स्तुति करने वाले हम लोग केवल देवताओं के हित मात्र के लिए जीवन धारण करें ।

त्रिविध ताप की शान्ति हो ।

मन्त्रोक्तस्यार्थस्य विस्तरानुवादीदं ब्राह्मणमारभ्यते । ऋषिप्रश्नप्रतिवचनाख्यायिका तु विद्यास्तुतय एवं संवत्सरब्रह्मचर्यसंवासादियुक्तैस्तपोयुक्तैर्ग्राह्या पिप्पलादादि-

---

'आथर्वणे ब्रह्मा देवानामित्यादि मन्त्रैरेवाऽऽत्मतत्त्वस्य निर्णीतत्वात्तत्रैव ब्राह्मणेन तदभिधानं पुनरुक्तमित्याशङ्क्य तस्यैवेह विस्तरेण प्राणोपासनादिसाधनसाहित्येनाभिधानान्न पौनरुक्त्यमिति वदन्ब्राह्मणमवतारयति—मन्त्रेति । विस्तरेति । मन्त्रे हि द्वे विद्ये वेदितव्ये परा चैवापरा चेत्युक्त्वा तत्रापरर्ग्वेदाद्यभिधेयेत्युक्तम् । सा च विद्या कर्मरूपोपासनारूपा च । तत्र द्वितीया, द्वितीयतृतीयप्रश्नाभ्यां विव्रियते । आद्या कर्मकाण्डे विवृतेति नेह विव्रियते । उभयोः फलं तु ततो वैराग्यार्थं प्रथमप्रश्ने स्पष्टीक्रियते । परविद्या चाथ परा "यथा तदक्षरमधिगम्यते" इत्युपक्रम्य कृत्स्नेन मुण्डकेन प्रतिपादिता ।

प्रस्तावना भाष्य

अथर्व मन्त्रोक्त मुण्डकोपनिषत् अर्थ का विस्तार से अनुवाद करने वाली ब्राह्मण-भागीय (यह प्रश्नोपनिषत्) अब प्रारम्भ की जाती है । प्रश्न और उत्तररूप आख्यायिका ब्रह्मविद्या की स्तुति के लिये है । यह ब्रह्मविद्या आगे बतलाये प्रकार से एक वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य पूर्वक गुरुकुल में निवास करने वाले एवं तप आदि साधनों से युक्त पुरुषों द्वारा ही ग्रहण करने योग्य है और पिप्पलाद महर्षि

---

१. आथर्वणे—एतदाख्ये वेदे । २. मन्त्रैः—मुण्डकगतैः । ३. तत्रैव—आथर्वणे एव । ४. ब्राह्मणेन—प्रश्नोपनिषद्रूपेण ।

॥ अथ प्रथमःप्रश्नः ॥

ॐ सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौसल्यश्चाऽऽश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ॥१॥

भरद्वाज का पुत्र सुकेशा, शिबि का पुत्र सत्यकाम, सूर्य का पौत्र गर्गगोत्रोत्पन्न गार्ग्य, अश्वल का पुत्र कौसल्य, भृगु गोत्र में उत्पन्न विदर्भ देश का रहने वाला वैदर्भी, कत्य के प्रपोते कबन्धी; ये सब अपर ब्रह्म की उपासना में लगे हुए थे एवं तदनुकूल अनुष्ठान में तत्पर ये सभी ऋषि परब्रह्म का अन्वेषण करते हुए भगवान् पिप्पलाद के पास इस विचार से गये कि ये ऋषि परब्रह्म के विषय में सब कुछ हमें बतला देंगे। सभी ने हाथ में समिधा ली हुई थी अर्थात् विधिवत् ब्रह्मविद्या के लिए गुरु के निकट गए ॥१॥

वत्सर्वज्ञकल्पैराचार्यैर्वक्तव्या च। न सा येन केनचिदिति विद्यां स्तौति। ब्रह्मचर्यादिसाधनसूचनाच्च तत्कर्तव्यता स्यात्। [1]सुकेशा च नामतः। भरद्वाजस्यापत्यं भारद्वाजः। शैब्यश्च शिबेरपत्यं शैब्यः सत्यकामो नामतः। सौर्यायणी सूर्यस्यापत्यं सौर्यस्तस्यापत्यं सौर्यायणिश्छान्दसः सौर्यायणीति। गार्ग्यो गर्गगोत्रोत्पन्नः। कौसल्यश्च नामतोऽश्वलस्यापत्यमाश्वलायनः। भार्गवो भृगोर्गोत्रापत्यं भार्गवः। वैदर्भिर्विदर्भे भवः। कबन्धी

तत्रापि यथा सुदीप्तादित्यादिमन्त्रद्वयोक्तार्थस्य विस्तरार्थं चतुर्थः प्रश्नः। प्रणवो धनुरित्यत्रोक्तप्रणवोपासनविवरणार्थं पञ्चमः प्रश्नः। एतस्माज्जायते प्राण इत्यादिना शेषेण मुण्डकेनोक्तस्यार्थस्य स्पष्टीकरणार्थः षष्ठः प्रश्न इतीदं ब्राह्मणं तद्विस्तरानुवादीत्यर्थः। अत एव विषयप्रयोजनादिकं तत्रैवोक्तमिति नेह पुनरुच्यत इति बोध्यम्। आख्यायिकाया ब्रह्मचर्यतपआदिसाधनविधानं [2]पुराकल्पस्वरूपेण प्रयोजनान्तरं चास्तीत्याह—ब्रह्मचर्यादिसाधनेति। सौर्यायणीति। सौर्यायणिरिति वक्तव्ये दैर्घ्यं

की भाँति सर्वज्ञ तुल्य आचार्यों से ही कही जाने योग्य है, जिस किसी से नहीं। इस प्रकार इस आख्यान द्वारा विद्या की स्तुति करते हैं तथा ब्रह्मचर्यादि साधकों की सूचना द्वारा उनकी कर्तव्यता भी सिद्ध हो जाती है।

सुकेशादि ऋषियों का महर्षि पिप्पलाद के पास जाना

नाम से सुकेशा भरद्वाज का पुत्र भारद्वाज था। शिबि का पुत्र शैब्य जिसका नाम सत्यकाम था। सूर्य के पौत्र होने से सौर्यायणी और गर्ग-गोत्र में उत्पन्न होने से जो गार्ग्य कहलाता था। मन्त्र में सौर्यायणी दीर्घ ईकारान्त छान्दस प्रयोग है। वस्तुतः 'सौर्यायणि' ऐसा ह्रस्वान्त पद साधु है।

---

१. सुकेशा चेति सुकेशश्चेति वक्तव्ये दैर्घ्यं छान्दसं सौर्यायणीतिवदित्यवधेयम्। २. पुराकल्पेति—पुराकल्पो नामार्थवादभेदस्तदुक्तम् "स्तुतिर्निन्दा परकृतिः पुराकल्प" इत्यर्थवाद इति, गौ. सू.। तत्र परकृतिः पुरुषविशेषनिष्ठतया कथनं (परक्रिया) यथा वपामेवाग्रेऽभिघारयन्तीति। ऐतिह्यमात्रचरिततया कीर्तनं पुराकल्पः। पुराकल्पस्वरूपेणेति—सम्प्रदायपारम्पर्येणेत्यर्थः।

तान्ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान्पृच्छत यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥२॥

इस प्रकार उन आए हुए ऋषियों से महर्षि पिप्पलाद ने कहा कि तुम तपस्या, इन्द्रिय संयम रूप ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से युक्त हो गुरुशुश्रूषापूर्वक एक वर्ष ठहरो फिर अपनी इच्छानुसार प्रश्न करना। यदि मैं उसे जानता होऊँगा तो तुम्हें सब बतला दूंगा ॥२॥

नामतः। कत्य(त?)स्यापत्यं कात्यायनः। [1]विद्यमानः प्रपितामहो यस्य सः, युवप्रत्ययः। ते हैते ब्रह्मपरा अपरं ब्रह्म परत्वेन गतास्तदनुष्ठाननिष्ठाश्च ब्रह्मनिष्ठाः परं ब्रह्मान्वेषमाणाः, किं तत्? यन्नित्यं विज्ञेयमिति तत्प्राप्त्यर्थं यथाकामं यतिष्याम इत्येवं तदन्वेषणं कुर्वन्तस्तदधिगमायैष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीत्याचार्यमुपजग्मुः। कथम्? ते ह समित्पाणयः समिद्भारगृहीतहस्ताः सन्तो भगवन्तं पूजावन्तं पिप्पलादमाचार्यमुपसन्ना उपजग्मुः ॥१॥

तानेवमुपगतान्ह स किल ऋषिरुवाच भूयः पुनरेव यद्यपि यूयं पूर्वं तपस्विन

छान्दसमित्यर्थः। युवप्रत्यय इति। कत्य(त)स्य युवापत्ये विवक्षिते फक्प्रत्यये तस्याऽऽयनादेशे च कात्यायन इति सिध्यतीत्यर्थः। ब्रह्मपराणां पुनर्ब्रह्मान्वेषणमयुक्तमित्यत आह—अपरं ब्रह्मेति। नन्वपरब्रह्मान्वेषणेनैव पुरुषार्थसिद्धेः किं परब्रह्मान्वेषणेनेत्याशङ्क्ते—किं तदिति। तस्य [2]कोऽतिशय इत्यर्थः। तस्यानित्यत्वेन तत्प्राप्तेरप्यनित्यहेतुत्वेनापुरुषार्थत्वात्परस्यैव नित्यत्वात्तत्प्राप्तेस्तज्ज्ञानमात्रसाध्यत्वेनापि नित्यत्वाच्च तस्यैवान्वेषणीयत्वमिति परस्वरूपकथनेनाऽऽह—यदिति। परब्रह्मान्वेषमाणानां [3]कोऽतिशय इत्यत [4]आह—तत्प्राप्त्यर्थमिति। तत्प्राप्त्यर्थं तदधिगमाय तदन्वेषणं कुर्वन्तो यथाकामं यतिष्याम इत्येवमभिप्रायेणेत्यन्वयः। समिदिति। समिद्ग्रहणं यथायोग्यं(ग्य?) दन्तकाष्ठाद्युपहारोपलक्षणार्थम् ॥१॥

दर्शन - अपर ब्रह्म
ज्ञान - पर ब्रह्म

नाम से कौशल्य और अश्वल का पुत्र होने से आश्वलायन कहलाता था। भृगुगोत्र में उत्पन्न होने से भार्गव विदर्भदेशीय वैदर्भि कहा जाता था। नाम से कबन्धी और कत्य का युवापत्य अर्थात् कत्य का प्रपौत्र कात्यायन था। जिसका पितामह जीवित हो उसकी युव संज्ञा होती है। ये सभी अपर ब्रह्म को ही परब्रह्म माने बैठे थे और तदनुकूल अनुष्ठान में तत्पर थे। ऐसे ब्रह्मनिष्ठ ऋषिगण परब्रह्म की खोज करते हुए 'वह तत्त्व क्या है जो नित्य विज्ञेय है, हम उसकी प्राप्ति के लिये ही यथेष्ट प्रयत्न करेंगे' इस प्रकार उस तत्त्व का अन्वेषण करते हुए उसे जानने के लिये आचार्य पिप्पलाद के पास गये, इस विश्वास को लेकर कि ये हमें सब कुछ बतला देंगे। किस प्रकार गये? (इसे बतलाते हैं) समिधा का भार हाथों में लिये पूज्य भगवान् पिप्पलाद के पास वे गये ॥१॥

---

१. "जीवति तु वंश्ये युवा" (पा. ४. १. ११३) इति सूत्रादाह—विद्यमान इत्यादि। २. कोऽतिशय इति—अपरस्माद्ब्रह्मण इति भावः। ३. कोऽतिशय इति—अपरब्रह्मान्वेषकेभ्य इति भावः। ४. आहेति—श्रोत्रियब्रह्मनिष्ठाचार्योपसदनं विशेष इत्याहेत्यर्थः।

अथ कबन्धी कात्यायन उपेत्य पप्रच्छ। भगव-
न्कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥३॥

एक वर्ष गुरुकुल वास करने के बाद कात्यायन कबन्धी ने पिप्पलाद महर्षि के पास जाकर पूछा—'हे भगवन् ! (ब्राह्मणादि) ये सम्पूर्ण प्रजा किससे उत्पन्न होती हैं' ॥३॥

एव तपसेन्द्रियसंयमेन तथाऽपीह विशेषतो ब्रह्मचर्येण श्रद्धया चाऽऽस्तिक्यबुद्ध्याऽऽदरवन्तः संवत्सरं कालं संवत्स्यथ सम्यग्गुरुशुश्रूषापराः सन्तो वत्स्यथ। ततो यथाकामं यो यस्य कामस्तमनतिक्रम्य यथाकामं यद्विषये यस्य जिज्ञासा तद्विषयान्प्रश्नान्पृच्छत । यदि तद्युष्मत्पृष्टं विज्ञास्यामः । अनुद्धतत्वप्रदर्शनार्थो यदिशब्दो नाज्ञानसंशयार्थः प्रश्ननिर्णयादवसीयते । सर्वं ह वो वः पृष्टं वक्ष्याम इति ॥२॥

अथ संवत्सरादूर्ध्वं कबन्धी कात्यायन उपेत्योपगम्य पप्रच्छ पृष्टवान् । हे भगवन्कुतः कस्माद्ध वा इमा ब्राह्मणाद्याः प्रजाः प्रजायन्त उत्पद्यन्ते । अपरविद्याकर्मणोः समुच्चित-

---

तथाऽपीत्यस्य तपसेत्यतः पूर्वमन्वयः । विशेषत इत्यस्य पूर्वत्राप्यन्वयः । निष्कृष्टमर्थमाह—यद्विषय इति । अज्ञानाद्यर्थत्वाभावे हेतुमाह—प्रश्नेति । अत्रेतिशब्दोऽध्याहार्यः । सर्वप्रश्नानां निर्णयादज्ञानाद्यसम्भवादित्यर्थः ॥२॥

परं ब्रह्मान्वेषमाणा इत्युपक्रान्तेऽस्मिन्ब्रह्मप्रकरणे प्रजापतिकर्तृकप्रजासृष्टिविषयप्रश्नप्रत्युक्त्योरसंगतिमाशङ्क्य प्रश्नप्रत्युक्तिरूपायाः श्रुतेस्तात्पर्यमाह—अपरविद्येति । तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोक इति समुच्चितकार्यस्य ब्रह्मलोकस्याथोत्तरेणेति तद्गतेर्देवयानमार्गस्य चेह वक्ष्यमाणत्वादित्यर्थः । इदमुपलक्षणं केवलकर्मणां चेत्यपि द्रष्टव्यम् । केवलकर्मकार्यस्यापि चन्द्रलोकस्य तद्गतेः पितृयाणस्य च 'तेषामेवैष ब्रह्मलोकः' 'प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते' इति वक्ष्यमाणत्वादिति । यद्यपीदमपि परब्रह्मजिज्ञासावसरेऽसंगतमेव तथाऽपि केवलकर्मकार्यात्समुच्चितकर्मकार्याच्च विरक्त-

---

इस प्रकार अपने निकट आये उन ऋषियों से पिप्पलाद ऋषि ने कहा कि यद्यपि आप लोग पहले से ही तपस्वी हैं तथापि इन्द्रिय संयमरूप तप, विशेषरूप से ब्रह्मचर्य पालन तथा आस्तिक बुद्धिरूप श्रद्धा से आदर युक्त हो गुरु सेवा में तत्पर रहकर एक वर्ष फिर यहाँ पर निवास करें। तत्पश्चात् जैसी जिसको इच्छा हो, उसका अतिक्रमण न करते हुए अपने जिज्ञास्य विषय में प्रश्न करना। यदि आपके पूछे हुए विषय को हम जानते होंगे तो आपकी पूछी हुई सभी बातों को अवश्य बतला देंगे। यहाँ पर 'यदि' शब्द अपनी नम्रता प्रकट करने के लिये कहा है, न कि अज्ञान या संशय प्रदर्शन के लिये। ऐसा ही प्रश्न का निर्णय करने से आगे स्पष्ट होता है ॥२॥

प्रजा उत्पत्ति के विषय में कबन्धी का प्रश्न

एक वर्ष के बाद कबन्धी कात्यायन ने समीप जाकर पूछा—हे भगवन् ! ये ब्राह्मणादि प्रजा किससे उत्पन्न होती है ? तात्पर्य यह कि अपर ब्रह्म विषयक ज्ञान एवं कर्म क समुच्चय अनुष्ठान से

तस्मै स होवाच प्रजाकामो वै प्रजापतिः स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा स मिथुनमुत्पादयते। रयिं च प्राणं चेत्येतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इति ॥४॥

उस कबन्धी (कात्यायन) से उस पिप्पलाद महर्षि ने कहा—प्रसिद्ध है कि प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा वाले प्रजापति ने (पूर्वकल्पीय ज्ञान का स्मरणरूप) तप किया। उसने पूर्वोक्त तप करके सृष्टि के साधनरूप रयि और प्राण रूप जोड़े को उत्पन्न किया। (यह सोचकर कि) ये दोनों ही मेरो नाना प्रकार की प्रजा को उत्पन्न करेंगे ॥४॥

योर्यत्कार्यं या गतिस्तद्वक्तव्यमिति तदर्थोऽयं प्रश्नः ॥३॥

तस्मा एवं पृष्टवते स होवाच। तदपाकरणायाऽऽह। प्रजाकामः प्रजा आत्मनः सिसृक्षुर्वै प्रजापतिः सर्वात्मा सञ्जगत्स्रक्ष्यामीत्येवं विज्ञानवान्यथोक्तकारी तद्भावभावितः कल्पादौ निर्वृत्तो हिरण्यगर्भः सृज्यमानानां प्रजानां स्थावरजङ्गमानां पतिः सञ्जन्मान्तरभावितं ज्ञानं [1]श्रुतिप्रकाशितार्थविषयं तपोऽन्वालोचयदतप्यत। अथ तु स एवं तपस्तप्त्वा

स्यंव तत्राधिकार इति ततो वैराग्यार्थमिदमुच्यते। यद्यपि मुखतः सृष्टिः प्रतीयते तथाऽपि तदुक्ता प्रयोजनाभावात्सृष्टयुक्तिव्याजेन परविद्याफलमेवात्रोच्यत इति भावः। प्रश्न इति प्रतिवचनं चेत्यपि द्रष्टव्यं ताभ्यामेव तदुक्तेरिति ॥३॥

तस्मै स होवाचेति प्रतिज्ञातं विशेषतो दर्शयति—तदपाकरणायेति। आद्यस्य सन्नित्यस्य प्रजाकामः सन्नित्यन्वयः। यथोक्तकारीति। ज्ञानकर्मसमुच्चयकारीत्यर्थः। तद्भावभावित इति। प्रजापतिरहं सर्वात्मेत्युपासनकालीनप्रजापतिभावनायुक्त इत्यर्थः। पूर्वकल्पीयतद्भावभावित एतत्कल्पादौ हिरण्यगर्भात्मना निर्वृत्तः प्रजापतिः सन्पश्चात्प्रजाकामः संस्तपो जन्मान्तरभावितं ज्ञानं श्रुतिप्रकाशितार्थविषयमतप्यतान्वालोचयच्चिन्तादिना तत्संस्कारमुद्बोध्य ज्ञानमुत्पादितवानित्यन्वयः। तत्र प्रथममादित्यचन्द्रोत्पादनेन तद्भावमापद्य पश्चाच्चन्द्रादित्यसाध्यसंवत्सरभावमापद्यैवमेव तदवयवायनद्वयमासपक्षाहोरात्रभावमापद्य ततस्तत्साध्यव्रीह्याद्यन्नभावं रेतोभावं चाऽऽपद्य तेन रेतसा प्रजाः सृजेयमित्येवं निश्चित्य प्रथमं रयिप्राणशब्दितचन्द्रसूर्यद्वन्द्वमुत्पादितवानित्याह—स एवमिति। रयि-

---

जो फल मिलता है और उसकी जो गति है, उसे बतलावें। बस उसी के लिये प्रश्न किया ॥३॥

प्रजापति से सर्वप्रथम रयि और प्राण की उत्पत्ति

इस प्रकार प्रश्न करने वाले उस कबन्धी से उसकी शङ्का दूर करने के लिये पिप्पलाद महर्षि ने कहा। अपनी प्रजा रचने की इच्छा वाले प्रजापति ने "मैं सर्वात्मा होकर जगत् की रचना करूँगा" ऐसे विज्ञान से युक्त तदनुरूप जगत् रचना में उपयोगी ज्ञान और कर्म के समुच्चय अनुष्ठान करने वाला पूर्वकल्पीय प्रजापतित्व को भावना से भावित और कल्प के आदि हिरण्यगर्भ रूप से उत्पन्न होकर

---

१. श्रुतिप्रकाशितेति—हिरण्यगर्भस्याहंग्रहोपासनश्रुतिः सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयदित्येवमादिसृष्टिश्रुतिश्च तया प्रकाशितेत्यर्थः।

आदित्यो ह वै प्राणो रयिरेव चन्द्रमा रयिर्वा एत-
त्सर्वं यन्मूर्तं चामूर्तं च तस्मान्मूर्तिरेव रयिः ॥५॥

निश्चय आदित्य ही प्राण (भोक्ता अग्नि) है और रयि ही चन्द्रमा है। यह सब जो स्थूल और सूक्ष्म हैं, वह मूर्त तथा अमूर्त (भोक्ता भोग्य रूप होने पर भी) रयि ही है। अतः मूर्ति ही रयि है ॥५॥

श्रौतं ज्ञानमन्वालोच्य सृष्टिसाधनभूतं मिथुनमुत्पादयते मिथुनं [१]द्वन्द्वमु[२]त्पादितवान्। रयिं च सोममन्नं प्राणं चाग्निमत्तारमेतावग्नीषोमावत्रन्नभूतौ मे मम बहुधाऽनेकधा प्रजाः करिष्यत इत्येवं संचिन्त्याण्डोत्पत्तिक्रमेण सूर्याचन्द्रमसावकल्पयत् ॥४॥

तत्राऽऽदित्यो ह वै प्राणोऽत्ताग्निः। रयिरेव चन्द्रमाः । रयिरेवान्नं सोम एव।

शब्देन धनवाचिना भोज्यजातं लक्षयित्वा भोज्यस्य सोमकिरणामृतयुक्तत्वात्तद्द्वारा सोमो लक्ष्यत इत्याह—रयिं चेति। एवं प्राणशब्देनापि।

"अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्" ॥ (भ.गी. १५-१४)

इति स्मृतेरग्नेः प्राणसम्बन्धादग्निर्भोक्ता लक्ष्यत इत्याह—प्राणं चेति। अग्नीषोमयोरण्डान्तर्गतत्वेनाण्डोत्पत्त्यनन्तरमुत्पत्तिरित्याशयेनाऽऽह—अण्डोत्पत्तीति। उद्यन्तं वावाऽऽदित्यमग्निरनुसमारोहतीति श्रुतेः सूर्याग्न्योरेकत्वमभिप्रेत्याग्निं सूर्यपदेनाऽऽह—सूर्याचन्द्रमसाविति ॥४॥

रयिप्राणौ श्रुतिः स्वयमेव व्याचष्ट इत्याह—तत्राऽऽदित्य इति। प्रजापतेरेव संवत्सरादिप्रजा-

---

सृज्यमान सम्पूर्ण जड़-चेतन प्रजा का पति होते हुए भी तप किया। यहाँ पर जन्मान्तरीय भावना को। इस श्रुति से प्रकाशित विषय के ज्ञान का स्मरण ही तप है। तत्पश्चात् श्रौत ज्ञान का स्मरणरूप तप करके प्रजापति ने सृष्टि के साधन जोड़े को बनाया। उसने सोमरूप अन्न और प्राण अर्थात् भोक्तारूप अग्नि को यह समझ कर बनाया कि ये भोक्ता और भोग्यरूप अग्नि एवं सोम मेरी नाना प्रकार की प्रजाओं को उत्पन्न करेंगे। अण्ड के उत्पत्ति क्रम से सूर्य और चन्द्र को बनाया ॥४॥

सूर्य और चन्द्र में प्राण तथा रयि दृष्टि

यहाँ पर निःसन्देह आदित्य ही प्राण अर्थात् भोक्तारूप अग्नि है और रयि ही चन्द्रमा है, यही रयि अन्न और सोम है। यहाँ भोक्ता और अन्न एक ही है क्योंकि एक ही प्रजापति ने इस मिथुन रूप को

---

१. "स्त्रीपुंसौ मिथुनं द्वन्द्वमि"त्यमरोक्तेः स्त्रीपुंसयुग्मवाच्येव लोके मिथुनशब्दः प्रकृते तु योग्यतया युग्ममात्रपर इत्याशयेन व्याचष्टे—द्वन्द्वमिति। "द्वन्द्वं कलहयुग्मयोरि"त्यमरः। २. उत्पादितवानिति—सत्यसङ्कल्पत्वात्सङ्कल्पेनैव न तु रेतसेत्यवबेयम्।

अथाऽऽदित्य उदयन्यत्प्राचीं दिशं प्रविशति तेन प्राच्यान्प्राणान्रश्मिषु संनिधत्ते। यद्दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीं यदधो यदूर्ध्वं यदन्तरा दिशो यत्सर्वं प्रकाशयति तेन सर्वान्प्राणान्रश्मिषु संनिधत्ते ॥६॥

जिस समय उदय होकर सूर्य पूर्व दिशा में प्रवेश करता है, तो उससे वह पूर्व दिशा के प्राणों को (सर्वत्र व्याप्त किरणों में होने के कारण) अपनी किरणों में प्रविष्ट कर लेता है (उन्हें आत्मभूत कर लेता है)। इसी प्रकार जब वह दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, नीचे, ऊपर और अवान्तर सभी दिशाओं को प्रकाशित करता है तो उससे भी वह उन सबके प्राणों को अपनो किरणों में धारण कर लेता है ॥६॥

तदेतदेकमत्ता चान्नं च प्रजापतिरेकं तु मिथुनम्। गुणप्रधानकृतो भेदः। कथम्? रयिर्वा अन्नं वा एतत्सर्वं किं तत्? यन्मूर्तं च स्थूलं चामूर्तं च सूक्ष्मं च मूर्तामूर्ते अत्त्रन्नरूपे रयिरेव। तस्मात्प्रविभक्तादमूर्ताद्यदन्यन्मूर्तरूपं मूर्तिः सैव रयिरमूर्तेनाद्यमानत्वात् ॥ ५ ॥

तथाऽमूर्तोऽपि प्राणोऽत्ता सर्वमेव यच्चाऽऽद्यम्। कथम्?—

अथाऽऽदित्य उदयन्नुद्गच्छन्प्राणिनां चक्षुर्गोचरमागच्छन्यत्प्राचीं दिशं स्वप्रकाशेन

पर्यन्तस्रष्टृत्वं वक्तुं रयिप्राणयोः सम्वत्सरस्रष्ट्रोः प्रजापत्युपादानत्वात्प्रजापत्यात्मत्वमाह—तदेतदेकमिति। कथमेकस्यात्ताऽन्नं चेति भेद इत्याशङ्क्य तस्यैव गुणभावविवक्षयाऽन्नत्वं प्राधान्यविवक्षया चात्तृत्वमिति भेद इत्याह—गुणेति। रयिप्राणयोः कथं प्रजापत्यात्मत्वमिति शङ्कते—कथमिति। तत्र रयेः सर्वात्मकत्वात्प्रजापतित्वमित्याह—रयिरिति। अमूर्तस्यापि वाय्वादेः [1]केनचिदद्यमानत्वाद्रयित्व-मित्यर्थः। ननु मूर्तामूर्तयोरत्त्रन्नयोरुभयोरपि रयित्वेऽन्नमेव रयिरिति कथमुक्तमित्याशङ्क्य मूर्तामूर्तत्व-विभागमकृत्वा सर्वस्य गुणभावमात्रविवक्षया सर्वं रयिरित्युच्यते। यदोभे विभज्य गुणप्रधानभावेन विवक्ष्येते तदाऽमूर्तेन प्राणेन मूर्तस्याद्यमानत्वान्मूर्तस्यैव रयित्वमित्याह—तस्मादिति ॥५॥

रयिशब्दितस्यान्नस्य प्रजापतित्वार्थं सर्वात्मत्वमुक्त्वा प्राणस्यापि तदर्थमेव सर्वात्मत्वमुच्यते-ऽथाऽऽदित्य इतिवाक्येनेत्याह—तथेत्यादिना। यच्चाऽऽद्यं तदपि प्राणोऽतोऽत्ता प्राणोऽपि सर्वमेवेति सर्वात्मक इत्यर्थः। स्वप्रकाशेनेति। [2]स्वकीयप्रकाशेन स्वप्रभयेत्यर्थः। अन्नभूतानिति। यद्यपि प्राणस्या-

---

धारण किया है। इनमें गौण और प्रधान भाव का ही केवल भेद है। कैसे? (इसे बतलाते हैं—) निःसन्देह यह सब रयिरूप अन्न ही तो है। वह क्या है? वह जो स्थूल मूर्त एवं सूक्ष्म अमूर्त पदार्थ है। ये भोक्ता-भोग्यरूप होते हुए भी रयि हैं, फिर भी उस विभक्त हुए अमूर्त से भिन्न जो मूर्तरूप है वही रयिरूप अन्न है क्योंकि वह अमूर्तरूप भोक्ता से भोगा जाता है ॥५॥

वैसे ही अमूर्त होता हुआ भी प्राण भोक्ता है क्योंकि उससे भिन्न सभी भोग्य हैं, कैसे?

जब सूर्य उदय होकर ऊपर की ओर जाता हुआ प्राणियों के नेत्रों का विषय होकर अपने

---

१. केनचिदिति—सर्पचकोरादिनेत्यर्थः। २. स्वकीयेति—अनावश्यकैवंविधव्याख्यानोपलम्भादादौ मङ्गला-दर्शनादन्ते च नेयमानन्दगिरिकृता टीकेत्यनुमीयते।

स एष वैश्वानरो विश्वरूपः प्राणोऽग्नि-
रुदयते । तदेतदृचाऽभ्युक्तम् ॥७॥

वह यह (भोक्ता) वैश्वानर विश्वरूप (होने के कारण) प्राण और अग्नि रूप ही प्रकट होता है। यही बात मन्त्र द्वारा भी कही गयी है ॥७॥

प्रविशति व्याप्नोति। तेन स्वात्मव्याप्त्या सर्वांस्तत्स्थान्प्राणान्प्राच्यानन्नभूतान्रश्मिषु स्वात्मावभासरूपेषु व्याप्तिमत्सु व्याप्तत्वात्प्रा[1]णिनः संनिधत्ते संनिवेशयति, आत्मभूतान्करोतीत्यर्थः। तथैव यत्प्रविशति दक्षिणां यत्प्रतीचीं यदुदीचीमध ऊर्ध्वं यत्प्रविशति यच्चान्तरा दिशः कोणदिशोऽवान्तरदिशो यच्चान्यत्सर्वं प्रकाशयति तेन स्वप्रकाशव्याप्त्या सर्वान्सर्वदिक्स्थान्प्राणान्रश्मिषु संनिधत्ते ॥६॥

स एषोऽत्ता प्राणो वैश्वानरः सर्वात्मा विश्वरूपो विश्वात्मत्वाच्च प्राणोऽग्निश्च स एवात्तोदयत उद्गच्छति प्रत्यहं सर्वा दिश आत्मसात्कुर्वन्। तदेतदुक्तं वस्तु ऋचा मन्त्रेणाप्युभ्युक्तम् ॥ ७ ॥

तृत्वमुक्तं तथाऽपि रयिर्वा एतत्सर्वमित्यत्रामूर्तस्य प्राणस्यापि गुणभावविवक्षयाऽन्नत्वमुक्तमिति तथोक्तम्। स्वात्मावभासरूपेष्विति। **स्वात्मप्रभारूपेषु रश्मिष्वित्यर्थः।** व्याप्तत्वादिति। **सम्बद्धत्वादित्यर्थः** ॥६॥

तस्य प्रत्यक्षत्वमाह—स एष इति। वैश्वानर इति। **नरा जीवा विश्वे च ते नराश्च विश्वानराः स एव वैश्वानरः सर्वजीवात्मक इत्यर्थः। विश्वरूपः सर्वप्रपञ्चात्मक इति भेदः।** उक्तं वस्त्विति। **आदित्यस्योक्तं माहात्म्यमित्यर्थः** ॥७॥

प्रकाश से पूर्व दिशा में प्रवेश करता है अर्थात् उसे अपने तेज से व्याप्त कर लेता है और उसके द्वारा अपनी व्याप्ति से उस पूर्वदिशा में स्थित सम्पूर्ण पूर्व दिग्वर्ती प्राणों को सर्वत्र व्याप्त अपने अवभासरूप किरणों में सम्पूर्ण प्राणियों को धारण कर लेता है। इसी को अपने में प्रविष्ट कर लेना कहा गया है। इस प्रकार उन सभी प्राणों को सूर्य आत्मभूत कर लेता है; यह इसका भावार्थ है। वैसे ही जब वह आदित्य दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, नीचे और ऊपर की ओर प्रवेश करता है या कोणस्थ जो अवान्तर दिशाएँ हैं, उन्हें अथवा अन्य सबको प्रकाशित करता है तो वह अपने प्रकाश की व्याप्ति से सम्पूर्ण दिग्वर्ती प्राणों को अपनी किरणों में धारण कर लेता है ॥६॥

वह यह भोक्ता प्राण समष्टि जीवरूप वैश्वानर, सर्वात्मा और सर्वरूप है एवं सर्वमय होने के कारण ही वह प्राण और अग्निरूप है। वही भोक्ता सभी दिशाओं को आत्मसात् करता हुआ ऊपर की ओर जाता है। यह उपर्युक्त बात ही मन्त्र द्वारा भी कही गयी है ॥७॥

---

१. प्राणिपरो लक्षणया प्राणशब्द इत्याशयेन प्राणानित्यस्यार्थमाह—प्राणिन इति।

विश्वरूपं हरिणं जातवेदसं परायणं ज्योति-
रेकं तपन्तम्। सहस्ररश्मिः शतधा वर्तमानः
प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥८॥

सर्वरूप, किरण वाला, ज्ञान से सम्पन्न सम्पूण प्राणों का आश्रय, ज्योति स्वरूप, अद्वितीय और तपते हुए सूर्य को (ब्रह्मवेत्ताओं ने अपने आत्म स्वरूप से जाना है)। यह सूर्य अनेकों किरणों वाला, अनेकों प्रकार से वर्तमान तथा प्रजाओं के प्राणरूप से उदित होता है ॥८॥

विश्वरूपं सर्वरूपं हरिणं [१]रश्मिवन्तं जातवेदसं जातप्रज्ञानं परायणं सर्वप्राणाश्रयं ज्योतिरेकं सर्वप्राणिनां चक्षुर्भूतमद्वितीयं तपन्तं तापक्रियां कुर्वाणं [२]स्वात्मानं सूर्यं सूरयो विज्ञातवन्तो ब्रह्मविदः। कोऽसौ यं विज्ञातवन्तः? सहस्ररश्मिरनेकरश्मिः शतधाऽनेकधा-प्राणिभेदेन वर्तमानः प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः ॥८॥

यश्चासौ चन्द्रमा मूर्तिरन्नममूर्तिश्च प्राणोऽत्ताऽऽदित्यस्तदेकमेतन्मिथुनं सर्वं कथं प्रजाः करिष्यत इति, उच्यते—

विश्वरूपमित्यादिद्वितीयान्तानां सहस्ररश्मिरित्यादिप्रथमान्तानां सामानाधिकरण्येनान्वया-योगादध्याहारं कृत्वा वाक्यभेदेन व्याचष्टे—स्वात्मानमित्यादिना ॥८॥

स मिथुनमुत्पादयत इत्युपक्रान्तं मिथुनमुपसंहरति—यश्चासाविति। यश्चासौ चन्द्रमा यश्चामूर्तः(र्तिः) प्राणस्तदेकं मिथुनं सर्वं सर्वात्मकमित्यन्वयः। एतौ मे बहुधा प्रजाः करिष्यत इत्युक्तं तत्केन प्रकारेणेति पृच्छति—कथमिति। रयिप्राणयोः संवत्सरादिद्वारा प्रजास्रष्टृत्वमित्याह—उच्यत इति। तदेव मिथुनमेव संवत्सरः कालः। स च प्रजापतिः प्रजापत्यात्मकमिथुननिर्वर्त्यत्वा-

---

सर्वरूप, किरणों वाला, ज्ञानवान्, सम्पूर्ण प्राणों के आश्रय सभी प्राणियों के नेत्र स्वरूप एकमात्र अद्वितीय एवं तपन क्रिया करते हुए सूर्य को ब्रह्मज्ञानियों ने अपने आत्मरूप से जाना है, जिसे इस प्रकार जाना है। वह कौन है? (इसे बतलाते हैं) अनेकों किरणों वाला, सैकड़ों अर्थात् अनेकों प्रकार के प्राणी भेद से वर्तमान तथा प्रजाओं का प्राणस्वरूप सूर्य उदय होता है (वही तो यह है) ॥८॥

संवत्सरादि में प्रजापति की दृष्टि

वह जो चन्द्रमा मूर्तरूप अन्न और अमूर्तरूप प्राण भोक्ता स्वरूप आदित्य है, वह एक ही मिथुन स्वरूप है फिर वह किस प्रकार प्रजा को उत्पन्न करेगा? इस पर कहते हैं, वह मिथुन ही

---

१. निघण्टौ रश्मिपर्यायेषु हरिशब्दपाठादाह—रश्मिवन्तमिति। पामादिलक्षणो नः। २. स्वात्मानमिति—"योऽसावसौ पुरुषः सोऽहमस्मि" (ईश- १६) इत्यादिश्रुतिभ्य इति भावः।

संवत्सरो वै प्रजापतिस्तस्यायने दक्षिणं चोत्तरं च। तद्ये ह वै तदिष्टापूर्ते कृतमित्युपासते। ते चान्द्रमसमेव लोकमभिजयन्ते। त एव पुनरावर्तन्ते तस्मादेत ऋषयः प्रजाकामा दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते। एष ह वै रयिर्यः पितृयाणः ॥९॥

सम्वत्सर रूप काल ही प्रजापति है, उसके दक्षिण और उत्तर (छः-छः मास वाले प्रसिद्ध) दो अयन हैं। जो लोग इष्टापूर्त रूप केवल कर्म मार्ग का अवलम्बन करते हैं, वे (मिथुनात्मक प्रजापति के अंश अन्न रूप) चन्द्रलोक पर ही विजय पाते हैं और वे ही पुनः-पुनः (उत्तमाधम योनियों में) आवागमन को प्राप्त होते हैं। अतः ये प्रजा चाहने वाले गृहस्थ ऋषि लोग दक्षिण-मार्गोपलक्षित चन्द्रमा को प्राप्त होते हैं। इस प्रकार जो पितृयाण है, वही रयि है ॥९॥

तदेव कालः संवत्सरो वै प्रजापतिस्तन्निर्वर्त्यत्वात्संवत्सरस्य। चन्द्रादित्यनिर्वर्त्यतिथ्यहोरात्रसमुदायो हि संवत्सरस्तदनन्यत्वाद्रयिप्राणमिथुनात्मक एवेत्युच्यते, तत्कथम्? तस्य संवत्सरस्य प्रजापतेरयने मार्गौ द्वौ दक्षिणं चोत्तरं च। द्वे प्रसिद्धे ह्ययने षण्मासलक्षणे याभ्यां [1]दक्षिणेनोत्तरेण च याति सविता केवलकर्मिणां ज्ञानसंयुक्तकर्मवतां च

दित्याह—तन्निर्वर्त्यत्वादिति। तदुपपादयति—चन्द्रेति। चन्द्रनिर्वर्त्यास्तिथय आदित्यनिर्वर्त्यान्य[2]होरात्राणीति विभागः। तन्निर्वर्त्यत्वेऽपि कालस्य कथं तदात्मकतेत्याशङ्क्य कार्यकारणयोरभेदादित्याह—तदनन्यत्वादिति। न केवलं तिथ्यादिद्वारा चन्द्रादिनिर्वर्त्यत्वं संवत्सरस्य किं त्वयनद्वयद्वाराऽपीति वक्तुं तस्यायने इत्यादिवाक्यं तत्प्रश्नपूर्वकं व्याचष्टे—तत्कथमिति। चन्द्रादित्यनिर्वर्त्यत्वं कुतो हेत्वन्तरादित्यर्थः। केवलकर्मिणां लोकान्विदधद्दक्षिणेन याति। ज्ञानयुक्तकर्मवतां लोकान्विदधदुत्तरेण यातीत्यन्वयः। सवितेत्युपलक्षणं चन्द्रस्यापि। ज्येष्ठादि दक्षिणायनं मार्गशीर्षादिरुत्तरायणमिति श्रुतिषु

सम्वत्सररूप काल है और वही प्रजापति है क्योंकि उस मिथुन से ही सम्वत्सर निष्पन्न होता है। चन्द्रमा और सूर्य से निष्पन्न होने वाले तिथिरूप दिन-रात्रि के समुदाय का नाम ही तो सम्वत्सर है। अतः सम्वत्सर रयि और प्राण से अभिन्न होने के कारण मिथुनरूप ही है, ऐसा कहा गया है। वह कैसे? उस सम्वत्सर नामक प्रजापति के दक्षिण और उत्तर ये दो मार्ग हैं। छः-छः मास की अवधि वाले ये दोनों ही अयन प्रसिद्ध हैं, जिनके द्वारा केवल कर्मी और ज्ञान संयुक्त कर्मी पुरुषों के लोकों का विधान करता हुआ दक्षिण एवं उत्तर मार्ग से जाता है। वह किस प्रकार? इस पर कहते हैं—उन

---

१. दक्षिणेनेति—एनबन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चम्या इत्येनबन्तमेतद्दक्षिणस्यां दिशीत्यर्थः। एवमुत्तरेणेत्येतदपि तथेति बोध्यम्। २. अहोरात्राणीत्यत्र "रात्राह्नाहाः पुंसी"ति नादृतम्।

लोकान्विदधत्, कथं ?तत् तत्र च ब्राह्मणादिषु ये ह वै तदुपासत इति क्रियाविशेषणो द्वितीयस्तच्छब्दः । इष्टं च पूर्तं 'चेष्टापूर्ते इत्यादि कृतमेवोपासते नाकृतं नित्यं ते चान्द्रमसं चन्द्रमसि भवं प्रजापतेर्मिथुनात्मकस्यांशं रयिमन्नभूतं लोकमभिजयन्ते कृतरूपत्वाच्चान्द्रमसस्य ते तत्रैव च कृतक्षयात्पुनरावर्तन्त इमं लोकं हीनतरं वा विशन्तीति ह्युक्तम् । यस्मादेवं प्रजापतिमन्नात्मकं फलत्वेनाभिनिर्वर्तयन्ति चन्द्रमिष्टापूर्तकर्मणैत ऋषयः स्वर्गद्रष्टारः प्रजाकामाः प्रजार्थिनो गृहस्थास्तस्मात्स्वकृतमेव दक्षिणं दक्षिणायनोपलक्षितं चन्द्रं प्रतिपद्यन्ते । एष ह वै रयिरन्नं यः पितृयाणः पितृयाणोपलक्षितश्चन्द्रः ॥९॥

प्रसिद्धेः, ततश्च 'कर्मिणां लोकान्विधातुं तयोर्दक्षिणोत्तराभ्यां मार्गाभ्यां गमनात्तन्निमित्तत्वाच्चायनद्वयप्रसिद्धेस्तन्निर्वर्त्यत्वं तयोरयनयोरिति तद्द्वारा संवत्सरस्यापि तन्निर्वर्त्यत्वमित्यर्थः । चन्द्रादित्ययोः कथं लोकविधायकत्वमिति पृच्छति—कथमिति । चन्द्रादित्यनिर्वर्त्यदक्षिणोत्तरायणद्वारा लोकप्राप्तेः प्राप्यस्य लोकस्यापि चन्द्रादित्यात्मकत्वाच्च तयोस्तद्विधायकत्वमिति तद्ये ह वा इत्यादिवाक्येन परिहरति—तत्तत्रेति । इष्टं चेति ।

"अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम् ।
आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते ॥
वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्यभिधीयते"

इति तयोर्भेदः । कृतमित्युपासत इति कृतशब्दोपरितनमितिशब्दमिष्टापूर्ते इति पूर्तशब्दोपर्याकृष्याऽऽदिशब्दपर्यायतया व्याचष्टे—इत्यादीति । 'दत्तमादिशब्दार्थः । कृतमेवोपासते कार्यमेवानुतिष्ठन्तीत्यर्थः । इदं च विशेषणं पुनरावृत्तौ हेतुतयोक्तम् । कृतरूपे'ष्टचादिजन्यत्वाच्चन्द्रस्यापि कृतत्वेनानित्यत्वात्पुनरावृत्तिरित्याह—कृतरूपत्वादिति । पुनरावृत्तौ मन्त्रवाक्यं प्रमाणयति—इमं लोकमिति ॥९॥

ब्राह्मणादि में जो ऋषिगण निश्चयपूर्वक इष्ट और पूर्त कर्म की ही उपासना करते हैं; नित्य की नहीं, वे सदा चन्द्रमा में होने वाले मिथुनात्मक प्रजापति के अंशभूत रयिलोक पर ही विजय करते हैं क्योंकि चन्द्रलोक कृति साध्य है। श्रुति में ('तदिष्टापूर्ते' यहाँ पर) दूसरा तच्छब्द क्रिया विशेषण है, (जिसका सम्बन्ध 'उपासते' क्रिया के साथ है) वहां पर अपने कर्म के क्षय होने पर पुनः वे लौट आते हैं, ऐसा ही "इस मनुष्य लोक अथवा इससे भी अत्यन्त निकृष्ट तिर्यगादि लोक में प्रविष्ट करते हैं" इस मुण्डक श्रुति में भी कहा गया है। जबकि ऐसी बात है, इसीलिये सन्तानार्थी स्वर्गद्रष्टा गृहस्थ, ऋषिगण, इष्ट और पूर्त कर्म द्वारा उनके फल स्वरूप अन्नात्मक प्रजापति रूप चन्द्रलोक का ही सम्पादन करते हैं। इसीलिये वे अपने कर्मों द्वारा उपार्जित दक्षिणायन मार्ग से ही चन्द्रलोक को प्राप्त होते हैं। यह जो पितृयाण से उपलक्षित चन्द्रलोक है, निःसन्देह वह रयिरूप अन्न ही है ॥९॥

---

१. इष्टापूर्ते इति—"अन्येषामपि दृश्यते" इति पूर्वपदस्य दीर्घः । २. कर्मिणामिति—केवलकर्मिणां ज्ञानकर्मवतां चेत्यर्थः । ३. दत्तमिति—"शरणागतसंत्राणं भूतानां चाप्यहिंसनम् । बहिर्वेदि च यद्दानं दत्तमित्यभिधीयते" ॥
४. इष्टचादीत्यत्रेष्टादीति प्राकरणिकः पाठः ।

**अथोत्तरेण तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्य-
याऽऽत्मानमन्विष्याऽऽदित्यमभिजयन्ते । एतद्वै
प्राणानामायतनमेतदमृतमभयमेतत्परायणमेतस्मान्न
पुनरावर्तन्त इत्येष निरोधस्तदेष श्लोकः ॥१०॥**

तथा इन्द्रिय संयमरूप तप, दृढ़ ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और प्रजापति तादात्म्यरूप विद्या द्वारा आत्मा को खोज कर उत्तरायण से सूर्यलोक को प्राप्त होते हैं। निश्चय यही सम्पूर्ण प्राणों का सामान्य आयतन है, यही अमृत है, यही भय रहित है और यही समुच्चय अनुष्ठान करने वालों की परागति है. इससे फिर लौटते नहीं। अतः अविद्वानों के लिए यह निराध स्थान है। (क्योंकि वे आदित्यमण्डल को भेद कर ऊपर नहीं जा सकते) इस विषय में अग्रिम मन्त्र प्रसिद्ध है ॥१०॥

अथोत्तरेणायनेन प्रजापतेरंशं प्राणमत्तारमादित्यमभिजयन्ते । केन ? तपसेन्द्रियजयेन विशेषतो ब्रह्मचर्येण श्रद्धया विद्यया च प्रजापत्यात्मविषययाऽऽत्मानं प्राणं सूर्यं [1]जगतस्तस्थुषश्चान्विष्याहमस्मीति विदित्वाऽऽदित्यमभिजयन्तेऽभिप्राप्नुवन्ति । एतद्वा आयतनं सर्वप्राणानां सामान्यमायतनमाश्रयमे(ए)तदमृतमविनाशि, अभयमत एव भयवर्जितं न चन्द्रवत्क्षयवृद्धिभयवदेतत्परायणं परा गतिर्विद्यावतां, कर्मिणां च ज्ञानवतामेतस्मान्न पुनरावर्तन्ते यथेतरे केवलकर्मिण इति यस्मादेषोऽविदुषां निरोध आदित्याद्धि

अथेति। मार्गान्तरारम्भार्थोऽथशब्दः । प्रजापत्यात्मविषययेति । तत्तादात्म्यविषययेत्यर्थः । आदित्यमभिजयन्त इति पूर्वमन्वयार्थमुक्तमिदानीं व्याख्यानार्थमिति द्रष्टव्यम् । सामान्यमिति। समष्टिरूपमित्यर्थः । विद्यावतामिति । कर्मानधिकारिणामत एव केवलोपासनवतामित्यर्थः । कर्मिणां च ज्ञानवतामिति। समुच्चयवतामित्यर्थः। ननु केवलकर्मिणामप्यादित्यप्राप्तावपुनरावृत्तिर्भविष्यतीत्याशङ्क्य तेषामादित्यप्राप्तिरेव नास्तीति वक्तुमित्येष इति वाक्यं व्याचष्टे—इति यस्मादिति । तस्मा-

---

वैसे ही वे उत्तरायण द्वारा प्रजापति क अंश भोक्तारूप प्राण अर्थात् आदित्य को प्राप्त हाते हैं। किस साधन से ? इसे बतलाते हैं, इन्द्रिय विजयरूप तप से विशेषतः ब्रह्मचर्य, श्रद्धा और प्रजापति के साथ तादात्म्य विषयक उपासना से आदित्य लोक पर विजय प्राप्त करते हैं। स्थावर-जङ्गम जगत् के प्राण सूर्य से अपने को अनुसन्धान कर जिसने यह समझ लिया है कि मैं सूर्य हूँ, वे इस उपासना के फलस्वरूप आदित्य को प्राप्त कर लेते हैं। निःसन्देह सम्पूर्ण प्राणों का सामान्य आश्रय यही है, यह अविनाशी है अतएव भय रहित है, चन्द्रमा के समान क्षय और वृद्धि रूप भय से युक्त नहीं है एवं उपासकों की ओर उपासना सहित कर्मानुष्ठान करने वालों की परा गति है। इस पद को प्राप्त कर लेने के पश्चात् दूसरे केवल कर्म परायण लोगों के समान फिर ये संसार में नहीं लौटते क्योंकि यह लोक विद्वानों के लिये निरोध है। उपासनाहीन पुरुष आदित्य मण्डल को भेद कर इस लोक में

---

१. जगतस्तस्थुषश्च जङ्गमस्य स्थावरस्य च प्राणं सूर्यमित्यन्वयः ।

पञ्चपादं पितरं द्वादशाकृतिं दिव आहुः परे अर्धे पुरीषिणम्। अथेमे अन्य उ परे विचक्षणं सप्तचक्रे षडर आहुरर्पितमिति ॥११॥

काल के रहस्य जानने वाले अन्य विद्वान् इस आदित्य को पाँच (ऋतु रूप) पैरों वाला सबका पिता, बारह मास रूप आकृतियों वाला पुरीषी (जल वाला) और द्युलाक से ऊपर स्वर्गलोक में स्थित बतलाते हैं। तथा ये अन्य कालज्ञ पुरुष उसीको सर्वज्ञ एवं सात चक्र और उसी छः ऋतु रूप अरे वाले में इस जगत् को विशिष्ट बतलाते हैं ॥११॥

निरुद्धा अविद्वांसो नैते संवत्सरमादित्यमात्मानं प्राणमभिप्राप्नुवन्ति। स हि संवत्सरः कालात्माऽविदुषां निरोधः। तत्तत्रास्मिन्नर्थ एष श्लोको मन्त्रः ॥ १० ॥

पञ्चपादं पञ्चर्तवः पादा इवास्य संवत्सरात्मन आदित्यस्य तैरसौ पादैरिवर्तुभिरावर्तते। हेमन्तशिशिरावेकीकृत्येयं कल्पना। पितरं सर्वस्य जनयितृत्वात्पितृत्वं तस्य, तं

तेषामादित्यप्राप्तिरनाशङ्क्ये ति शेषः (१०)। यद्वा तस्यायने इत्यारभ्येत्येष निरोध इत्यन्तं श्रुतिवाक्यमयनयो रयिप्राणरूपत्वप्रतिपादनपरतया व्याख्येयम्। तथा हि। संवत्सरस्य रयिप्राणमिथुननिर्वर्त्यत्वे रयिप्राणरूपत्वं च वक्तव्यं तत्कथमिति पृच्छति—तत्कथमिति। तदवयवयोरयनयोस्तद्रूपत्वं वक्तुं तयोः प्रथमं प्रसिद्धिमाह—तस्येति। प्रसिद्धिमेवाऽऽह—याभ्यामिति। एवमपि कथं तयोस्तदात्मकत्वमित्याह—कथमिति। दक्षिणायनस्य रयित्वं वक्तुं कर्मिणां रयिरूपचन्द्रनिर्वर्तकत्वमाह—तत्त्रेति। लोकमिति। सोमरूपं शरीरमित्यर्थः। तस्य कर्मकृतत्वं पुनरावृत्त्या साधयति—कृतरूपत्वादिति। रयिरूपचन्द्रस्य दक्षिणायनद्वारा प्राप्यत्वात्तस्यायनस्य तदन्तर्भाव इति वक्तुं तस्य कर्मिभिः प्राप्यत्वमाह—यस्मादिति। एवं च तस्य रयित्वं सिद्धमित्याह—एष इति। पितृयाणोपलक्षित इति। तत्प्राप्य इत्यर्थः। ततश्च तद्विशेषणस्यायनस्यापि रयित्वमित्यर्थः (६)। इदानीमुत्तरायणस्य प्राणत्वमाह—अथेति। प्राणरूपादित्यप्रापकत्वादुत्तरायणस्य तस्यापि प्राणत्वमिति संवत्सरस्य रयिप्राणमिथुनात्मकत्वमिति तत्कार्यत्वं युक्तमिति भावः। अस्य कर्मसाध्यचन्द्रवैलक्षण्यमाह—एतद्वा इति। इतरत्सर्वं समानम्। अस्मिन्नर्थ इति। संवत्सरस्वरूप इत्यर्थः ॥१०॥

इयं कल्पनेति। पञ्चधा कल्पनेत्यर्थः। जनयितृत्वादिति। संवत्सरात्मककालस्य सर्व-

---

नहीं जा सकते। ऐसे पुरुष आदित्यरूप सम्वत्सर अर्थात् अपने आत्मस्वरूप प्राण को नहीं प्राप्त करते हैं क्योंकि वह कालरूप सम्वत्सर उपासनाहीन पुरुषों के लिये निरोध स्थान है। इसीलिये इस विषय में यह मन्त्र प्रसिद्ध है ॥१०॥

आदित्य सर्वाधिष्ठान है

इस सम्वत्सररूप आदित्य के पाँच ऋतुएँ चरण के समान हैं, इसीलिये ये पाद कहे गये हैं क्योंकि चरणों की भाँति उन ऋतुओं से ही यह घूमता है। हेमन्त और शिशिर को एक मानकर यह

द्वादशाकृतिं द्वादश मासा आकृतयोऽवयवा आकरणं वाऽवयवविकरणमस्य द्वादशमासैस्तं द्वादशाकृतिं दिवो द्युलोकात्पर ऊर्ध्वेऽर्धे स्थाने तृतीयस्यां दिवीत्यर्थः । पुरीषिणं पुरीषवन्तमु[१]दकवन्तमाहुः [२]कालविदः । अथ तमेवान्य इमं उ परे कालविदो विचक्षणं निपुणं सर्वज्ञं सप्तचक्रे सप्तहयरूपेण चक्रे [३]सततं गतिमति कालात्मनि षडरे षड्ऋतुमत्याहुः सर्वमिदं जगत्कथयन्ति । अर्पितमरा इव रथनाभौ निविष्टमिति । यदि पञ्चपादो द्वादशाकृतिर्यदि वा सप्तचक्रः षडरः सर्वथाऽपि संवत्सरः कालात्मा प्रजापतिश्चन्द्रादित्यलक्षणोऽपि जगतः कारणम् ॥ ११ ॥

जनकत्वादित्यर्थः । समानाधिकरणबहुव्रीहितया व्याख्याय व्यधिकरणबहुव्रीहिर्वेत्याह—आकरणं वेति । अवयविकरणमिति । अवयवित्वेन करणमित्यर्थः । पक्षद्वयेऽप्येक एवार्थः । द्युलोकादिति । आकाशरूपादन्तरिक्षलोकादित्यर्थः । अन्यथा स्वर्गलोकात्परस्य चतुर्थत्वेन तृतीयस्यामित्यनन्वयापत्तेः । उदकवन्तमिति । आदित्याज्जायते वृष्टिरिति स्मृतेरित्यर्थः । [४]अन्य इत्यस्य पूर्वार्धगतेनाऽऽहुरित्यनेन संबन्धः । उ इति तुशब्दसमानार्थो निपातः । परे तु तमेव विचक्षणमाहुरित्यन्वयः । किमाहुरित्यत आह—सप्तचक्र इति । तस्मिन्विचक्षणे सप्तचक्राद्यात्मके सर्वमिदं जगदर्पितमित्याहुरित्यर्थः । मतद्वयेऽपि कीदृशोऽर्थभेद इत्यत आह—यदीति । पूर्वमते ऋतूनां पादत्वकल्पनया मासानामवयवत्वकल्पनयाऽऽदित्यात्मना संवत्सरः काल एवोक्तः । द्वितीये तु हेमन्तशिशिरौ पृथक्कृत्य षण्णामृतूनामरत्वकल्पनया संवत्सरस्य परिवर्तनगुणयोगेन चक्रत्वकल्पनया कालप्राधान्येन सर्वाश्रयत्वेन च स एवोक्तः । पक्षद्वयेऽपि गुणभेदेन कल्पनाभेदेन च भेदो न धर्मिभेद इत्यर्थः ॥ ११ ॥

कल्पना की गयी है । सबका उत्पादक होने के कारण इसमें पितृत्व है । इसीलिये इसे पिता कहते हैं । बारह महीने उसकी आकृतियाँ अवयव अथवा आकार हैं या यों समझो कि बारह महीनों द्वारा ही उसका विभाग किया जाता है । इसीलिये उसे द्वादशाकृति कहते हैं और अन्तरिक्ष से ऊपर के स्थानरूप तीसरे स्वर्गलोक में स्थित है । कालज्ञ पुरुष उसे जल वाला कहते हैं, उसी को निपुण अन्य कालवेत्ता पुरुष सर्वज्ञ कहते हैं तथा सात अश्वरूप, सात चक्र और षट् ऋतुरूप छः अरों वाले निरन्तर गतिशील उस कालात्मा में ही रथ की नाभि में जुड़े अरों की भाँति इस सम्पूर्ण जगत् को निविष्ट बतलाते हैं ।

यदि पञ्चपाद और द्वादश आकृतियों वाला है अथवा सप्तचक्र छः अरों वाला है, सभी प्रकार चन्द्रमा और सूर्यरूप से ही कालस्वरूप सम्वत्सर प्रजापति सम्पूर्ण जगत् का कारण है ॥११॥

---

१. (निघण्टौ) निरुक्ते पुरीषशब्दस्योदकनामसु पाठाद्व्याचष्टे—उदकवन्तमिति । २. कालविद इति—कालात्मप्रजापत्युपासका इत्यर्थः । ३. सततं गतिमतीति—सातत्यं चक्रात् गतिश्च सप्ततः निरुक्ते सृप्तत्वेनापि सप्तव्याख्यानदर्शनादेवं सप्तहयरूपेण चक्रे इत्यधिकं प्रक्षिप्तं भाति, सूर्यात्मना वा हयसम्बन्धसंभवः । ४. अन्य इत्यस्येत्यादि—तथा च अथेमे परे त्विति परत्वेनोच्यमानेभ्योऽन्ये कालविदः पञ्चपादमित्येवमादिरूपेणाहुः । अथेमे परे तु विचक्षणमित्येवमादिरूपेणाहुरित्यन्वय इति भावः ।

मासो वै प्रजापतिस्तस्य कृष्णपक्ष एव रयिः शुक्लः प्राणस्तस्मादेत ऋषयः शुक्ल इष्टं कुर्वन्तीतर इतरस्मिन् ॥१२॥

मास ही पूर्वोक्त प्रजापति है, उस मास रूप प्रजापति का कृष्ण पक्ष हो रयि है, शुक्ल पक्ष प्राण है। इसलिये ये प्राण उपासक ऋषिगण शुक्ल पक्ष में यज्ञ किया करते हैं, अर्थात् कृष्ण पक्ष को भी वे शुक्ल पक्ष समझते हैं तथा दूसरे ऋषि (शुक्ल पक्ष में) यज्ञ करते हुए भी कृष्ण पक्ष में यज्ञ करते हैं ॥१२॥

यस्मिन्निदं श्रितं विश्वं स एव प्रजापतिः संवत्सराख्यः [1]स्वावयवे मासे [2]कृत्स्नः परिसमाप्यते । मासो वै प्रजापतिर्यथोक्तलक्षण एव मिथुनात्मकस्तस्य मासात्मनः प्रजापतेरेको भागः कृष्णपक्षो रयिरन्नं चन्द्रमाः अपरो भागः शुक्लः शुक्लपक्षः प्राण आदित्योऽत्ताऽग्निर्यस्माच्छुक्लपक्षात्मानं प्राणं सर्वमेव पश्यन्ति तस्मात्प्राणदर्शिन एत ऋषयः कृष्णपक्षेऽपीष्टं यागं कुर्वन्तः [3]शुक्लपक्ष एव कुर्वन्ति प्राणव्यतिरेकेण कृष्णपक्ष-

---

कारणत्वे श्लोकोक्तं जगदाश्रयत्वं हेतुमाह—यस्मिन्निति । संवत्सरस्यापि मासाहोरात्ररूप-व्यतिरेकेणौषध्यादिजनकत्वाभावात्तस्य मासाद्यात्मकत्वमाह—स एवेति । यथोक्तेति । संवत्सररूपो रयिप्राणमिथुनात्मक इत्यर्थः । शुक्लकृष्णयोरुभयोरपि दर्शपूर्णमासादिकर्मानुष्ठानदर्शनात्तस्मादेत ऋषय इत्यादि वाक्यमनुपपन्नमित्याशङ्क्य शुक्लस्य प्राणात्मत्वज्ञानस्तुतिपरतया व्याचष्टे-यस्मादिति । यस्मात्प्राणं सर्वमेव सर्वात्मकमेव पश्यन्ति यस्माच्च प्राणव्यतिरेकेण कृष्णपक्षस्तैर्न दृश्यते तस्मादित्य-न्वयः । प्राणस्य शुक्लपक्षात्मकत्वात्कृष्णपक्षादिसर्वजगतः प्राणात्मत्वात्प्राणद्वारा कृष्णपक्षस्यापि शुक्लपक्षत्वे सति कृष्णे कुर्वन्तोऽपि प्रकाशात्मके शुक्ल एव कुर्वन्तीति शुक्लपक्षे प्राणत्वज्ञानस्य [4]स्तुति-

---

मासादियों में प्रजापति आदि की दृष्टि

जिसमें यह सम्पूर्ण जगत् आश्रित है, वही सम्वत्सर नामक प्रजापति अपने अवयवरूप मास में पूर्ण रूपेण परिसमाप्त हो जाता है। निःसन्देह पूर्वोक्त लक्षण युक्त मिथुनात्मक प्रजापति मास ही तो है; उस मास स्वरूप प्रजापति का एकभाग कृष्णपक्ष रयिरूप अन्न अर्थात् चन्द्रमा है और दूसरा भाग शुक्लपक्ष प्राणरूप भोक्ता अग्नि स्वरूप आदित्य है क्योंकि वे शुक्लपक्षरूप प्राण को सर्वात्मा के रूप में देखते हैं, उन्हें कृष्णपक्ष भी प्राण से भिन्न नहीं दीखता है। इसीलिये ऐसे प्राण उपासक ऋषि लोग कृष्णपक्ष में भी (उसे शुक्लपक्ष मानकर ही) अपना इष्ट याग करते हैं किन्तु जो दूसरे ऋषि प्राण

---

१. स्वावयव इत्यादि—न खलु स्वोदबिन्दौ न परिसमाप्यते कृत्स्ना गङ्गा कथमन्यथा तन्मात्रमाचम्यापि पूयेत हीति भावः । २. कृत्स्नः परिसमाप्यत इति—यथा गङ्गाया एकस्मिन्नपि बिन्दावयवे गङ्गात्वं तथा प्रजापत्य-वयवेऽपि प्रजापतित्वमिति यावत् । ३. शुक्लपक्ष एव कुर्वन्तीति—तथा च शुक्लमार्गगामिनस्ते भवन्ति समुच्चयकारित्वात्तेषामिति भावः । ४. स्तुतिरिति—सा च ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानविधानायेत्यवधेयम् ।

अहोरात्रो वै प्रजापतिस्तस्याहरेव प्राणो रात्रिरेव रयिः प्राणं वा एते प्रस्कन्दन्ति ये दिवा रत्या संयुज्यन्ते ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्ते ॥१३॥

निश्चय ही दिन-रात भी प्रजापति है, उनमें दिन ही प्राण है और रात्रि ही रति है। जो लोग (मूर्खतावश) दिन में रति स्वरूपा स्त्री से संयुक्त होते हैं वे निश्चय ही प्राण की हानि करते हैं तथा जो ऋतु काल में रात्रि के समय रति से संयुक्त होते हैं वह उनका ब्रह्मचर्य ही है। (अतः प्रशस्त होने के कारण ऋतु काल में ही रात्रि के समय स्त्री गमन का प्रासंगिक विधान है) ॥१३॥

स्तैर्न दृश्यते यस्मादितरे तु प्राणं न पश्यन्तीत्यदर्शनलक्षणं कृष्णात्मानमेव पश्यन्ति। इतर इतरस्मिन्कृष्णपक्ष एव कुर्वन्ति शुक्ले कुर्वन्तोऽपि ॥ १२ ॥

सोऽपि मासात्मा प्रजापतिः स्वावयवेऽहोरात्रे परिसमाप्यते पूर्ववत्। तस्याप्यहरेव प्राणोऽत्ताऽग्नी रात्रिरेव रयिः पूर्ववत्, प्राणमहरात्मानं वा एते प्रस्कन्दन्ति [2]निर्गमयन्ति शोषयन्ति वा स्वात्मनो विच्छिद्यापनयन्ति। के? ये दिवाऽहनि रत्या रति-

---

रित्यर्थः। एतत्स्तुत्यर्थमेव ज्ञानरहितान्निन्दति—इतरे त्विति। ये तु सर्वात्मानं प्राणं न पश्यन्त्यज्ञत्वात्तेषां शुक्लपक्षः प्राणत्वेनाज्ञायमानत्वादज्ञानात्मकः सन्कृष्णपक्षत्वमापद्यतेऽतः शुक्ले कुर्वन्तोऽप्यदर्शनात्मकत्वात्प्रकाशरहिते कृष्ण एव कुर्वन्तीति ते [3]निन्द्यन्त इत्यर्थः। उक्तमर्थं श्रुत्यारूढं करोति—इतर इति ॥१२॥

रयिः पूर्ववदिति। रयिरन्नं चन्द्रमा इत्यर्थः। अह्नः प्राणत्वोक्तिप्रसङ्गादह्नि मैथुनं निषेधति—प्राणमिति। प्रकृतमिति। कुतो ह वा इमाः प्रजाः प्रजायन्त इति पृष्टमित्यर्थः। पूर्वोक्तं सर्वमेतदुपयो-

---

का दर्शन नहीं करते। इसीलिये ऐसे लोग सबको अदर्शनात्मक कृष्णपक्षरूप ही देखते हैं। अतः वे शुक्लपक्ष में यागानुष्ठान करते हुए भी कृष्णपक्ष में ही करते हैं ॥१२॥

मासरूप प्रजापति की दिन-रात्रि में समाप्ति

वह मासात्मक प्रजापति भी अपने अवयव दिन-रात्रि में परिसमाप्त हो जाता है। निःसन्देह अहोरात्रि भी पूर्व की भाँति प्रजापति ही हैं, उसका भी दिन ही प्राणरूप भोक्ता अर्थात् अग्नि है और पूर्व की भाँति रात्रि रयि है। वे लोग दिनरूप प्राण को क्षीण करते अर्थात् अपने से पृथक् करके नष्ट करते हैं। ऐसे कौन हैं? जो मूढ़ दिन के समय रति की कारण स्वरूपा स्त्री से संयुक्त

---

१. अहोरात्र इति। अहश्च रात्रिश्चानयोः समाहार इत्येकत्वम्। "रात्राह्नाहाः पुंसी"ति पुंस्त्वम्। "अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रे"रिति समासान्तोऽच। २. स्कन्दिर्गतिशोषणयोरितिस्मरणादाह—निर्गमयन्ति शोषयन्ति वेति। ३. निन्द्यन्त इति—निन्दा चैषा केवलकर्मप्रहाणेन समुच्चयप्रवर्तनायेत्यवधेयम्।

**अन्नं वै प्रजापतिस्ततो ह वै तद्रेतस्तस्मा-
दिमाः प्रजाः प्रजायन्त इति ॥१४॥**

अन्न ही प्रजापति है (उसी से प्रजा का कारण रूप) वह वीर्य होता है और उस वीर्य से ही यह (मनुष्यादि रूप सम्पूर्ण) प्रजा उत्पन्न होती है ॥१४॥

कारणभूतया सह स्त्रिया संयुज्यन्ते मैथुनमाचरन्ति मूढाः । यत एवं तस्मात्तन्न कर्तव्यमिति प्रतिषेधः प्रासङ्गिकः । यद्रात्रौ संयुज्यन्ते रत्या ऋतौ ब्रह्मचर्यमेव तदिति प्रशस्तत्वादृतौ भार्यागमनं कर्तव्यमिति । अयमपि प्रासङ्गिको विधिः । प्रकृतं तूच्यते सोऽहोरात्रात्मकः प्रजापतिर्व्रीहियवाद्यन्नात्मना व्यवस्थितः ॥१३॥

एवं क्रमेण परिणम्य तदन्नं वै प्रजापतिः । कथम् ? ततस्तस्माद्ध वै रेतो नृबीजं

गितयोक्तं न तु साक्षात्प्रकृतमिति भावः ॥१३॥

एवं क्रमेणेति । **रयिप्राणसंवत्सरादिक्रमेण परिणम्य व्रीह्याद्यात्मना व्यवस्थितः सन्नन्नं वै प्रजापतिरन्नात्मको जातः प्रजापतिरित्यन्वयः । कथमिति । अन्नरूपत्वेऽपि तस्य कथं प्रजाजनकत्व-मित्यर्थः । तत इति । [३]भक्षितादन्नादित्यर्थः । रेत इति । [४]शोणितस्याप्युपलक्षणं [५]तुल्यत्वादिति ॥१४॥**

होते हैं अर्थात् मैथुन करते हैं, क्योंकि ऐसी बात है । इसलिये ऐसा नहीं करना चाहिये, यह निषेध प्रासंगिक है और ऋतुकाल में रात्रि के समय जो ऋतु से संयुक्त होते हैं, वह तो ब्रह्मचर्य ही है । अतः प्रशस्त होने के कारण (गृहस्थों को) ऋतुकाल में ही स्त्री गमन करना चाहिये, यह विधि भी प्रासंगिक है । अब प्रकृत विषय को कहते हैं, वह दिन-रात्रिरूप प्रजापति क्रमशः व्रीहि और यव आदि अन्नरूप से स्थित हुआ ॥१३॥

अन्न में प्रजापति दृष्टि

इस प्रकार क्रमशः परिणाम को प्राप्त होकर वह अन्न ही प्रजापतिरूप है । कैसे ? उस अन्न

---

१. तस्मादिमाः प्रजा इति—तथा च यथोक्तक्रमेण प्रजापतेरेव प्रजात्मना व्यवस्थितत्वादहमस्मि सर्वात्मा प्रजापतिर्हिरण्यगर्भ इति शक्यमुपासितुं प्रजयेति तत्कर्तव्यतयेति हृदयम् । २. "ऋतौ भार्यामुपेयादि"ति विध्यन्तर संगृह्णन्नाह—ऋताविति । ३. भक्षितादन्नादिति—ननु भक्षकस्तु नाद्यापि समजनिष्ट को भक्षये-द्रेतसो हि तेनोत्पत्तव्यं रेतसा च तस्मादित्यन्योऽन्याश्रयता स्यात् । नच प्रजापतिरेव भक्षयेदिति साम्प्रतं यो ह्यन्तरेणापि रेतो मिथुनमुदपादयत् किमसौ तदर्थं भक्षयेदितीति चेत्सत्यम्; प्रजापतिनैव रयिप्राणमिथुनमिव मनुशतरूपाख्यमपरं मिथुनमन्तरेणैव रेतसोत्पाद्यत इति बृहदारण्यके पठ्यते तदेव भवेद् भक्षयितृ ततस्तु भवेद्रैतसी प्रजेति गृहाण । वस्तुतस्तु प्रजापतेः सर्वात्मत्वमात्रमत्र विवक्ष्यते नैवं क्रम इत्यनवद्यम् । ४. शोणितस्येति—नारीबीजस्य रजस इत्यर्थः । ५. तुल्यत्वादिति—अन्नजत्वप्रजाजनकत्वयो रजोवीर्योभयसाधारणत्वादित्यर्थः ।

[1]तद्ये ह वै तत्प्रजापतिव्रतं चरन्ति ते मिथुन-मुत्पादयन्ते । तेषामेवैष ब्रह्मलोको येषां तपो ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम् ।।१५।।

इस प्रकार जो भी (कोई गृहस्थ ऋतु काल में रात्रि के समय स्त्री-गमन रूप) प्रजापति व्रत का आचरण करते हैं, वे (पुत्र और स्त्री रूप) जोड़े को उत्पन्न करते हैं। जिनमें (इष्टादि कर्मानुष्ठान रूप) तप और पूर्वोक्त ब्रह्मचर्य है तथा जिनमें असत्य त्याग रूप सत्य स्थित है, उन्हीं को यह (चन्द्रलोक में स्थित पितृयाण रूप) ब्रह्मलोक प्राप्त होता है ।।१५।।

तत्प्रजाकारणं तस्माद्योषिति सिक्तादिमा मनुष्यादिलक्षणाः प्रजाः प्रजायन्ते यत्पृष्टं कुतो ह वै प्रजाः प्रजायन्त इति । तदेवं चन्द्रादित्यमिथुनादिक्रमेणाहोरात्रान्तेनान्न[2]सृग्रेतो-द्वारेणेमाः प्रजाः प्रजायन्त इति निर्णीतम् ।। १४ ।।

तत्त्रैवं [3]सति ये गृहस्थाः 'ह वै' इति प्रसिद्धस्मरणार्थौ निपातौ । तत[4]प्रजापतेर्व्रत-मृ[5]तौ भार्यागमनं चरन्ति कुर्वन्ति तेषां दृष्टफलमिदम् । किम् ? ते मिथुनं पुत्रं दुहितरं

प्रजापतिव्रताचरणमात्रेण नादृष्टफलं चन्द्रलोकः प्राप्यते मूर्खाणामपि प्रसङ्गादत आह—

से ही प्रजा का कारणरूप पुरुष का शुक्र उत्पन्न होता है और स्त्री की योनि में सींचे जाने पर उसी वीर्य से मनुष्यादिरूप प्रजा उत्पन्न होती हैं। हे शिष्य ! तूने जो पूछा था कि यह सम्पूर्ण प्रजा किससे उत्पन्न होती हैं, वह इस प्रकार चन्द्रमा और आदित्य रूप मिथुनादि क्रमशः अहोरात्र पर्यन्त अन्न, रक्त एवं वीर्य के द्वारा ये सारी प्रजाएँ उत्पन्न होती हैं। ऐसा निर्णय हो गया है ।।१४।।

प्रजापति व्रत का फल

इस परिस्थिति में निःसन्देह जो गृहस्थ उस प्रजापति के व्रत का आचरण करते हैं अर्थात् ऋतु-काल में रात्रि के समय स्त्री गमन करते हैं। यहाँ पर 'ह' और 'वै' ये दोनों निपात प्रसिद्ध अर्थ

---

१. संप्रति विधानाय विद्यासाधनानि ब्रह्मचर्यादीनि फलोक्त्या स्तौति—तद्ये ह वा इत्यादिना । फलोक्त्येति फलान्तरोक्त्येत्यर्थः । २. असृक्छोणितम् । ३. एवं सतीति—प्रजापतेरात्मनो ब्रह्मचर्यं रक्षित्वैव मिथुनादि-स्रष्टृत्वे सतीत्यर्थः । ४. प्रजापतिना हि प्रजोत्पत्तिकामेनापि सत्ता नात्मनो ब्रह्मचर्यमुत्सृष्टमिति ब्रह्मचर्यमेव तस्य व्रतं तच्चराद्यत्वे गृहस्थानाभृतौ रात्रौ भार्यागमनरूपमेव ब्रह्मचर्यमेव तद्यद्रात्रौ रत्या संयुज्यन्त इति श्रुतेरित्य-भिसंधाय व्याचष्टे—प्रजापतेर्व्रतमृतौ भार्यागमनमिति । ५. यद्वाऽहरात्मकस्य प्राणस्य प्रजापतेरस्कन्दनव्रतं प्रजापतिव्रतमित्याशयेनाह—ऋताविति । रात्रेरुपलक्षणमृतौ रात्रावेवेत्यर्थः ।

तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोको न येषु
जिह्ममनृतं न माया चेति ॥१६॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि प्रथमः प्रश्नः ॥१॥

जिन गृहस्थों में कुटिलता (क्रीड़ादि वशात्) अनृत और माया नहीं है, उन्हीं को यह विशुद्ध ब्रह्मलोक प्राप्त होता है (ऐसा एकान्त निष्ठ ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और भिक्षुक में ही सम्भव है। कर्म और उपासना के समुच्चित अनुष्ठान से ही उक्त फल मिलता है, केवल कर्म से तो चन्द्रलोक की प्राप्ति होती है) ॥१६॥

॥ इति प्रथमः प्रश्नः ॥

चो[1]त्पादयन्ते । अदृष्टं च फलमिष्टापूर्तदत्तकारिणां तेषामेवैष यश्चान्द्रमसो ब्रह्मलोकः पितृयाणलक्षणो येषां तपः स्नातकव्रतादीनि[2], ब्रह्मचर्यम्, ऋतावन्यत्र[3] मैथुनासमाचरणं ब्रह्मचर्यम् । येषु च सत्यमनृतवर्जनं प्रतिष्ठितमव्यभिचारितया वर्तते नित्यमेव ॥१५॥

यस्तु पुनरादित्योपलक्षित उत्तरायणः प्राणात्मभावो विरजः शुद्धो न चन्द्रब्रह्मलोकवद्रजस्वलो वृद्धिक्षयादियुक्तोऽसौ केषां तेषामित्युच्यते । यथा गृहस्थानामनेकविरुद्ध-

---

इष्टापूर्तेति । **चान्द्रमसो ब्रह्मलोक इत्यपरब्रह्मणः प्रजापतेरंशत्वाद्रयिरूपस्य चन्द्रस्य ब्रह्मलोकत्वमित्यर्थः । इष्टादिकारिणां तपआदिकमपि चन्द्रलोकप्राप्त्यर्थमपेक्षितमित्यत आह**—येषां तप इति ॥१५॥

तेषामसौ विरज इत्यादिवाक्यं व्याचष्टे—यस्त्विवति । उत्तरायण इति । **तेन प्राप्य इत्यर्थः । प्राणात्मभावोऽपरब्रह्मतयाऽवस्थानमित्यर्थः ।** असौ केषां तेषामिति । **तेषामसौ विरज इत्यत्र तेषामित्यनेन केषां निर्देश इति प्रश्नार्थः । न येषु जिह्ममित्यत्र जिह्मादिशब्दं व्यतिरेकप्रदर्शनेन व्याचष्टे**—

का स्मरण करने के लिये हैं। उन प्रजापति व्रत आचरण करने वालों को यह दृष्टफल प्राप्त होता है। कौन फल ? वे पुत्र और पुत्री को उत्पन्न करते हैं। इसके अतिरिक्त उन इष्ट, पूर्त और दत्त कर्म करने वालों को यह अदृष्ट फल मिलता है, जो चन्द्रलोक में स्थित पितृयाणरूप ब्रह्मलोक हैं (ऐसे फल के अधिकारी वे हैं) जिनमें स्नातक व्रतादि तप ऋतुकाल से भिन्न समय में स्त्री गमन न करनारूप ब्रह्मचर्य और असत्य भाषण का त्यागरूप सत्य, नित्य अव्यभिचरित रूप से प्रतिष्ठित होता है ॥१५॥

उत्तर-मार्गगामी की गति

किन्तु जो चन्द्रलोक सम्बन्धित ब्रह्मलोक के समान मल से युक्त और वृद्धि, क्षय आदि से युक्त नहीं है, प्रत्युत सूर्य से उपलक्षित विशुद्ध प्राणात्म भाव है, वही लोक उन्हें प्राप्त होता है।

---

१. उत्पादयन्त इति—न तु क्लीबमिति भावः । २. स्नातकेत्यादि—ब्रह्मचर्येण वेदं लब्ध्वा कृतसमावर्तनस्नानो गृहस्थः स्नातकस्तत्कर्तव्यतया स्मृत्याद्युक्तानि व्रतानि "नेक्षेतोद्यन्तमादित्य"मित्येवमादिनीत्यर्थः । आदित्यमिति—"नास्तं यान्तं कदाचन । नोपसृष्टं न वारिस्थं न मध्यं नभसो गतमि"ति मनुवाक्यशेषः ।
३. ऋतावन्यत्रेति—अत्रर्तोरन्यत्रेति युक्तः पाठः । सप्तमीप्रतिरूपकं वा भवेदव्ययमृताविति । रजोदर्शनोपलक्षितान्मैथुनार्हादृतोरन्यस्मिन्नृतौ काले इति पञ्चम्यर्थे वा सप्तमीत्येवमुपपादनीयम् ।

संव्यवहारप्रयोजनवत्त्वाज्जिह्मं कौटिल्यं वक्रभावोऽवश्यंभावि तथा न येषु जिह्मम्। यथा च गृहस्थानां [1]क्रीडानर्मादिनिमित्तमनृतमवर्जनीयं तथा न येषु तत्, तथा माया गृहस्थानामिव न येषु विद्यते। माया नाम बहिरन्यथाऽऽत्मानं प्रकाश्यान्यथैव कार्यं करोति सा माया मिथ्याचाररूपा। मायेत्येवमादयो दोषा येष्वधिकारिषु ब्रह्मचारिवानप्रस्थभिक्षुषु निमित्ताभावान्न विद्यन्ते तत्साधनानुरूपेणैव तेषामसौ विरजो ब्रह्मलोक इत्येषा [2]ज्ञानयुक्तकर्मवतां गतिः। पूर्वोक्तस्तु ब्रह्मलोकः केवलकर्मिणां चन्द्रलक्षण इति ॥१६॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये प्रथमः प्रश्नः ॥१॥

॥ अथ द्वितीयः प्रश्नः ॥

प्राणोऽत्ता प्रजापतिरित्युक्तम्। तस्य प्रजापतित्वमत्तृत्वं चास्मिञ्शरीरेऽवधारयितव्यमित्ययं प्रश्न आरभ्यते—

यथेत्यादिना। मायाग्रहणं तादृशानां दोषाणामुपलक्षणमिति वदन्वाक्यार्थं संगृह्य दर्शयति—मायेत्येवमिति। भिक्षुष्विति परमहंसव्यतिरिक्तानां कुटीचकादीनां ग्रहणम्। तेषां ब्रह्मलोकादपि विरक्तत्वेन तत्रानर्थित्वात्। इतिशब्दार्थमाह—इत्येषेति ॥ १६ ॥

इति श्रीमदानन्दज्ञानविरचितप्रश्नोपनिषद्भाष्यटीकायां प्रथमः प्रश्नः ॥१॥

प्रश्नान्तरस्य प्रथमप्रश्नेन संगतिमाह—प्राणोऽत्तेति। अवधारयितव्यमिति। अत्ता विश्वस्य

किनको ? इसे कहते हैं—जैसे अनेकों विरुद्ध व्यवहार रूप प्रयोजन वाला होने से गृहस्थों में कुटिलता अर्थात् वक्रता निश्चित है, उस प्रकार जिनमें जिह्म नहीं है। जैसे क्रीड़ादि निमित्त से अनृत भाषण गृहस्थों में अनिवार्य है, वैसा जिनमें अनृत नहीं है तथा जिनमें गृहस्थों की भाँति माया नहीं है। अपने आपको बाहर से कुछ दिखलाते हुए भीतर से जो कुछ व्यवहार करना वही मिथ्याचरण रूप माया है। इस प्रकार जिन एकान्तनिष्ठ ब्रह्मचारी, वानप्रस्थ और भिक्षुओं में काई निमित्त न होने के कारण माया आदि दोष नहीं हैं। उन्हें उनके साधनानुरूप ही वह विशुद्ध ब्रह्मलोक प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार उपासना सहित कर्मानुष्ठान करने वाले की गति बतला दी गयी किन्तु पूर्वोक्त चन्द्रमारूप ब्रह्मलोक केवल कर्म करने वालों के लिये ही कहा गया ॥१६॥

द्वितीय प्रश्न

प्रजा को धारण करने वाले देवगण कौन-कौन है

प्राण भोक्ता प्रजापति है, ऐसा पहले कहा गया है। उसका प्रजापतित्व और भोक्तृत्व इस शरीर में निश्चित करना है। इसलिये यह प्रश्न प्रारम्भ किया जाता है। उसके पश्चात् उस पिप्पलाद

---

१. क्रीडानर्मेति—कन्दुकखेलनादिरूपा क्रीडा। हास्यादिकं च नर्मेति विवेकः। २. ज्ञानयुक्तकर्मेति—कर्मात्र तत्तदाश्रमधर्म एवेति ब्रह्मचारिवानप्रस्थभिक्षुष्विति न विरुध्यत इत्यवधेयम्।

॥ अथ द्वितीयः प्रश्नः ॥

अथ हैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ। भगवन्कत्येव देवाः प्रजां विधारयन्ते कतर एतत्प्रकाशयन्ते कः पुनरेषां वरिष्ठ इति ॥१॥

उसके बाद पिप्पलाद मुनि से विदर्भदेशीय भार्गव ने पूछा—'हे भगवन्! (इस शरीर रूप) प्रजा को कितने देवता धारण करते हैं तथा (उन देवताओं में से) कौन इसे प्रकाशित करते हैं और इन देवों में कौन प्रधान है' ॥१॥

अथानन्तरं ह किलैनं भार्गवो वैदर्भिः पप्रच्छ। हे भगवन्कत्येव देवाः प्रजां शरीरलक्षणां विधारयन्ते विशेषेण धारयन्ते । [1]कतरे [2]बुद्धीन्द्रियकर्मेन्द्रियविभक्तानामेतत्प्र[3]काशनं स्वमाहात्म्यप्रख्यापनं प्रकाशयन्ते । कोऽसौ पुनरेषां वरिष्ठः प्रधानः कार्यकरण-

---

सत्पतिरित्यत्तत्वस्यैषोऽग्निस्तपतीत्यारभ्यारा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् । प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायस इत्यादिना च प्रजापतित्वस्योत्तरत्र वक्ष्यमाणत्वादित्यर्थः । इदमुपलक्षणं [4]'पूर्वं गतिश्रवणेन विरक्तस्यापि चित्तैकाग्र्यं विना वक्ष्यमाणात्मज्ञानासिद्धेस्त[5]दर्थं मन्दानां फलविशेषार्थं च प्राणोपासनार्थं प्रश्नद्वयारम्भः । तत्रापि श्रेष्ठत्वात्तत्वप्रजापतित्वादिगुणनिर्धारणार्थं द्वितीयः प्रश्नः । तदुत्पत्त्यादिनिर्धारणपूर्वकं तदुपासनविधानार्थं तृतीयः प्रश्न इत्यपि द्रष्टव्यम् । प्रजाशब्देन शरीरमेव गृह्यते न जीवस्तस्य प्राणधारकत्वेन तद्धार्यत्वाभावादित्याह—शरीरेति । विभक्तानामिति निर्धारणे षष्ठी । स्वमाहात्म्यख्यापनमिति । अवकाशदानादिकमाकाशादीनां माहात्म्यं तस्य प्रख्यापनं तस्य लोकान्प्रति प्रकटनं तत्प्रकाशयन्ते कुर्वन्तीत्यर्थः । [6]पाकं पचतीतिवत् । अवकाशदानादिकं स्वस्वकार्यं

मुनि से विदर्भदेशीय भार्गव ने पूछा—हे भगवन्! इस शरीररूप प्रजा को कितने देवता मिलकर विशेषरूप से धारण करते हैं और ज्ञान इन्द्रियों तथा कर्म इन्द्रियों के रूप में विभक्त उन देवताओं में से कौन-कौन देवता इसे प्रकाशित करते हैं अर्थात् अपने माहात्म्य को स्थापन करते हैं और इन

---

१. कतर इति—विधारयमाणाश्च सन्त इत्यादिः । २. "किंयत्तदोर्निर्धारणे द्वयोरेकस्य डतरज"त्याश्रयेनाह—बुद्धीत्यादि । ज्ञानेन्द्रियत्वकर्मेन्द्रियत्वाभ्यां द्विधा विभक्तानां मध्ये कतरे किंजातीया इत्यर्थः। (द्वयोरेकस्येति किमोऽस्मिन्विषये डतरजपीति वार्तिकानुसंधाने तु द्वैराश्यकरणप्रयासोऽनावश्यको यद्यपि तथापि प्रसिद्ध्यनुरोधेनैव स आस्थित इत्यास्थेयम्) । ३. प्रकाशनमिति—अत्र प्रकाश्यमित्याद्यः पाठः प्रतिभाति । ४. पूर्वं गतिश्रवणेन विरक्तस्यापीति—दक्षिणं प्रतिपद्यन्ते, अथोत्तरेणेति दक्षिणोत्तरगतिश्रवणात्तत्प्राप्यलोकद्वयादपि संजातवैराग्यस्याप्यधिकारिण इत्यर्थः। ५. तदर्थम्—विरक्तस्य चित्तैकाग्र्यार्थम् । मन्दानामविरक्तानाम् । ६. स्ववाच्यविशेषार्थकपदान्तरसमभिव्याहारे विशेषवाचिनः सामान्यपरत्वे निदर्शनं दर्शयति—पाकं पचतीतिवदिति ।

तस्मै स होवाचाऽऽकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च। ते प्रकाश्याभिवदन्ति वयमेतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामः ॥२॥

तब आचार्य पिप्पलाद ने उस भार्गव से कहा—'निश्चय आकाश ही वह देव है। वायु, अग्नि, जल, पृथिवी, वाक् (सभी कर्मेन्द्रियाँ) मन और चक्षुः (ज्ञानेन्द्रियाँ) वे सभी देव अपनी-अपनी श्रेष्ठता के लिये महिमा को प्रकट करते हुए कहते हैं कि इस कार्य-कारण-संघात रूप शरीर को स्तम्भ की भाँति आश्रय देकर हम ही स्पष्टरूप से धारण करते हैं' ॥२॥

लक्षणानामिति ॥१॥

एवं पृष्टवते तस्मै स होवाच। आकाशो ह वा एष देवो वायुरग्निरापः पृथिवी-त्येतानि पञ्च महाभूतानि शरीरारम्भकाणि वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रमित्यादीनि कर्मेन्द्रिय-बुद्धीन्द्रियाणि ते कार्यलक्षणाः करणलक्षणाश्च ते देवा आत्मनो माहात्म्यं प्रकाश्याभि-

---

सर्वलोकप्रकटनं यथा तथा कतरे कुर्वन्तीत्यर्थः ॥१॥

एष देव इति। वक्ष्यमाणाभिवदनादिव्यवहारसिद्धार्थं चेतनत्वं संभावयितुं देव इति विशेषणम्। "अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम्" इति न्यायेनाऽऽकाशाद्यभिमानिदेवताग्रहणार्थम्। तच्च विशेषणं वाय्वादिष्वपि सर्वत्र संबध्यते। वाग्ग्रहणं कर्मेन्द्रियोपलक्षणार्थं चक्षुरादिग्रहणं ज्ञाने-न्द्रियोपलक्षणार्थमिति मत्वाऽऽह—कर्मेन्द्रियेति। कार्यलक्षणाः शरीराकारेण परिणता आकाशादयः। करणलक्षणानीन्द्रियाणि। माहात्म्यमिति। आकाशादीनामवकाशदानादिरूपं शरीरधारणैकदेशा-

---

कार्य-कारण रूप देवताओं में से कौन (सर्वश्रेष्ठ) प्रधान है ॥१॥

आकाशादि शरीर के आधार हैं

इस प्रकार पूछने वाले उस भार्गव से पिपलाद ने कहा कि निःसन्देह यह प्रसिद्ध आकाश ही वह देव है, साथ ही वायु, अग्नि, जल और पृथिवी ये शरीर के आरम्भक पञ्चभूत एवं वाणी, मन, चक्षु और श्रोत्रादि कर्मेन्द्रियाँ तथा ज्ञानेन्द्रियाँ देव हैं (इसको धारण करने वाले हैं)। वे कार्य तथा

---

१. धारकत्वं यथोक्तप्रकाशकत्वं च आकाशादिसाधारणं वरिष्ठत्वं तु प्राणस्यैवेति वक्ष्यन्नृषिरवोचदित्याह—तस्मै स होवाचेति। २. प्रकटनमिति-अत्र प्रकटमिति युक्तं पश्यामः। ३. अभिमानीति (ब्र. सू. २। १। ५) "ते हेमे प्राणा अहंश्रेयसे विवदमानाः" (बृ. उ. ६-१-७) इत्यादि श्रुतिषु प्राणादिशब्दैः प्राणाद्यभिमानिदेवतानां व्यपदेशो भवति। कुतः? विशेषानुगतिभ्याम्। विशेषण विशेषः अनुगतिश्च ताभ्याम् "एता ह वै देवता अहंश्रेयसे विवदमानाः" (कौ. उ. २-१४) इति प्राणानां चेतनवाचिना देवताशब्देन विशेषितत्वात्। "अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्रविशत्" (ऐ. उ. १/२/४) इत्यादिमन्त्रार्थवादादिषु सर्वत्र तदभिमानिदेवतानामनुगतिश्रवणाच्चेत्यर्थः।

तान्वरिष्ठः प्राण उवाच । मा मोहमापद्यथाह-मेवैतत्पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्यैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामीति तेऽश्रद्दधाना बभूवुः ॥३॥

इस प्रकार अभिमान से युक्त उन देवों के प्रति प्राण ने कहा—तुम लोग मोह को प्राप्त मत होवो, क्योंकि अपने को पाँच भागों में विभक्त कर मैं ही इस शरीर को आश्रय देकर धारण करता हूँ। किन्तु उन देवताओं ने उक्त बात पर विश्वास नहीं किया ॥३॥

वदन्ति स्पर्धमाना [3]अहंश्रेष्ठतायै, कथं वदन्ति ? वयमेतद्बाणं कार्यकरणसंघातमवष्टभ्य प्रासादमिव स्तम्भादयोऽविशिथिलीकृत्य विधारयामो विस्पष्टं धारयामः । मयैवैकेनायं संघातो ध्रियत इत्येकैकस्याभिप्रायः ॥२॥

तानेवमभिमानवतो वरिष्ठो [4]मुख्यः प्राण उवाचोक्तवान् । मा मैवं मोहमापाद्यथा-

---

त्मकं प्रकाश्यं स्वकार्यं प्रकाश्य सर्वलोकप्रकर्ष यथा तथा कृत्वाऽभिवदन्ति, अभितः सर्वतः कृत्स्नं शरीरधारणं प्रत्येकं वयमेव कुर्म इति वदन्तीत्यर्थः । बाणमिति । [5]बवयोरभेदाद्वाति कुत्सितं गन्धं वहतीति वा [बाणम्] । विनाशं गच्छतीति वा देशाद्देशान्तरं गच्छतीति वा वाणं [6]वाणमेव बाणं कार्यकरणसंघातं शरीरमित्यर्थः ॥२॥

कारणरूप देव अपनी महिमा को प्रकट करते हुए अपनी-अपनी श्रेष्ठता के लिये स्पर्धापूर्वक बोलते हैं। कैसे बोलते हैं ? इस कार्य-करण के संघातरूप शरीर को वैसे ही आश्रय देकर शिथिलता से बचाते हुए हम विस्पष्टरूप से धारण कर रहे हैं, जैसे स्तम्भादि महल का धारण करते हैं। उनमें से प्रत्येक का यही अभिप्राय था कि इस संघात को अकेले मैंने ही धारण किया है ॥२॥

प्राण के प्राधान्य में दृष्टान्त

इस प्रकार अभिमान युक्त उन देवताओं से मृत्यु प्राण ने कहा—ऐसे मोह का प्राप्त न होओ !

---

१. वरिष्ठः प्राण इति—अनेन कः पुनरेषां वरिष्ठ इत्युत्तरितं भवतीत्यवधेयम् । २. एतदित्यादि—अत्राद्य-मेतदिति क्रियाविशेषणं प्रविभज्येत्यनेनान्वेति, इत्थं प्रविभज्येति, प्रत्यक्षं निर्दिशन्नाहेत्यर्थः। अन्त्यं तु तद्बाण-समानाधिकरणमेवेति बोध्यम् । ३. मयूरव्यंसकादिशब्दं प्रयुङ्क्ते—अहंश्रेष्ठताया इति । ४. मुख्यः प्राण इति—अनेन वागादीन्द्रियाणां गौणप्राणत्वं शास्त्रे व्यपदिश्यत इत्यवधापयति । ५. बवयोरभेदादिति—नणयोश्चेत्यपि वक्तव्यं मानवो माणव इत्युभयदर्शनात् । तत्र कुत्सायां णत्वमिति चेदत्रापि समानं यदाह कुत्सितं गन्धमिति । गन्धस्य कुत्सितत्वमाहेति चेत्सत्यं कुत्सितवतोऽपि नाऽतत्त्वम् । वानमेव वाणमिति सम्बन्धः । ६. वाणमेव बाणमिति—यथा निगन्तवः सन्तो निघण्टव उच्यते तद्वदिति भावः ।

सोऽभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इव तस्मिन्नुत्क्रामत्यथेतरे सर्व एवोत्क्रामन्ते तस्मिꣳश्च प्रतिष्ठमाने सर्व एव प्रातिष्ठन्ते। तद्यथा मक्षिका मधुकर-

तब वह प्राण (इन्द्रियों की अश्रद्धा को देख कर) अभिमान पूर्वक मानो ऊपर उठने लगा, उसके ऊपर उठते ही और सभी प्रांण ऊपर उठने लगे तथा उसके बैठ जाने पर सभी बैठ गये। जैसे रानी-मक्खी के ऊपर उठने पर सभी मक्खियाँ ऊपर उठ जाती हैं और उसके बैठ जाने पर सभी बैठ जाती

विवेकतयाऽभिमानं मा कुरुत यस्मादहमेवैतद्बाणमवष्टभ्य विधारयामि पञ्चधाऽऽत्मानं प्रविभज्य प्राणादिवृत्तिभेदं स्वस्य कृत्वा विधारयामीत्युक्तवति च तस्मिंस्तेऽश्रद्दधाना अप्रत्ययवन्तो बभूवुः कथमेतदेवमिति ॥३॥

स च प्राणस्तेषामश्रद्दधानतामालक्ष्याभिमानादूर्ध्वमुत्क्रमत इवेदमुत्क्रान्तवानिव सरोषान्निरपेक्षस्तस्मिन्नुत्क्रामति यद्वृत्तं तद्दृष्टान्तेन प्रत्यक्षीकरोति। तस्मिन्नुत्क्रामति सत्यथानन्तरमेवेतरे सर्व एव प्राणाश्चक्षुरादय उत्क्रामन्त उच्चक्रमिरे। तस्मिंश्च प्राणे प्रतिष्ठमाने तूष्णीं भवत्यनुत्क्रामति सति सर्व एव प्रातिष्ठन्ते तूष्णीं व्यवस्थिता अभूवन्।

कथमेतादिति। एतत्व(द)हमेवैतदित्याद्युक्तम्। एवं यथाभूतं कथमित्यर्थः ॥३॥

उत्क्रान्तवानिवेति। अत्यन्तोत्क्रान्त्यभावादिवशब्दः। निरपेक्ष इति। स्वयमेवेत्यर्थः।

अविवेक के कारण अभिमान मत करो क्योंकि अपने को प्राणादि पाँचवृत्ति भेद से विभक्त कर मैं ही इस शरीर को आश्रय देकर धारण करता हूँ। वरिष्ठ प्राण के ऐसा कहने पर भी वे उसके इस कथन में विश्वस्त नहीं हुए कि यह कैसे हो सकता है ॥३॥

तब वह प्राण उनकी अश्रद्धा को देखकर क्रोधाविष्ट हो निरपेक्ष ही अभिमान पूर्वक ऊपर को ओर उठता हुआ-सा व्यापार करने लगा। उस वरिष्ठ प्राण के ऊपर उठते ही जो कुछ घटा, उसे दृष्टान्त द्वारा स्पष्ट करते हैं। तात्पर्य यह कि मुख्य प्राण के ऊपर उठने के तत्काल ही नेत्रादि इन्द्रियाँ उत्क्रमण करने लगीं और उस प्राण के प्रतिष्ठित होते ही वे सब प्रतिष्ठित हो चुपचाप बैठ जाते थे।

---

१. उत्क्रामन्त इति—दैर्घ्यं छान्दसम्, लोके तु "क्रमः परस्मैपदेष्वि"ति नियमः। २. पदलकारव्यत्ययश्छान्दस इत्याशयेन व्याकरोति—कुरुतेति। ३. अप्रत्ययवन्त इति—अविश्वासवन्त इत्यर्थः। 'प्रत्ययोऽधीनशपथज्ञानविश्वासहेतुषु' इत्यमरः। ४. इदमुत्क्रान्तवानिवेति—इदं शरीरं त्यक्तवानिवेत्यर्थः। ५. तदिति उक्त्वेति शेषः। ६. करोतीति कारयतीति यावत्। ७. कालव्यत्ययश्छान्दस इत्याह—उच्चक्रमिरे इति।

राजानमुत्क्रामन्तं सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिꣳश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्त एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति ॥४॥

[1]एषोऽग्निस्तपत्येष सूर्य एष पर्जन्यो मघवानेष वायुरेष पृथिवी रयिर्देवः सदसच्चामृतं च यत् ॥५॥

है। वैसे ही वाक्, मन, चक्षु और श्रोत्रादि भी (प्राण के साथ ही उठने और प्रतिष्ठित होने लगे) तब वे सभी इन्द्रियाँ सन्तुष्ट होकर मुख्य प्राण की स्तुति करने लगीं ॥४॥

यह प्राण अग्नि होकर प्रज्वलित होता है यह सूर्य (होकर प्रकाशित होता है) और यह मेघ (होकर बरसता) है। यही इन्द्र (होकर प्रजा का पालन करता है तथा असुरों का वध करता) है। यह वायु है तथा यह देव ही पृथिवी चन्द्रमा (रूप से सबका धारण एवं पोषण करने वाला है) और जो कुछ स्थूल, सूक्ष्म एवं अमृत है, वह सब कुछ यही है ॥५॥

---

[2]तत्तत्र यथा लोके मक्षिका मधुकराः [3]स्वराजानं मधुकरराजानमुत्क्रामन्तं प्रति सर्वा एवोत्क्रामन्ते तस्मिंश्च प्रतिष्ठमाने सर्वा एव प्रातिष्ठन्ते प्रतितिष्ठन्ति। यथाऽयं दृष्टान्त एवं वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं चेत्यादयस्त उत्सृज्याश्रद्धानतां बुद्ध्वा प्राणमाहात्म्यं प्रीताः प्राणं स्तुन्वन्ति [4]स्तुवन्ति ॥४॥

[5]कथम् ?—

एष प्राणोऽग्निः संस्तपति ज्वलति। तथैष सूर्यः सन्प्रकाशते। तथैष पर्जन्यः

दृष्टान्तेनेति। तत्र यथे (तद्यथे)ति वक्ष्यमाणेनेत्यर्थः ॥४॥

सूर्यः सन्निति। [6]तपतीत्यनुषङ्गः संतापयतीत्यर्थः। आवहप्रवहादीति। आवहादयः [7]सप्तसप्तवायु-

---

जसे लोक में मधु-मक्खियाँ अपने प्रधान मधुकर राजा के उठते ही सबकी सब उड़ जाती हैं और उसके बैठते ही सबकी सब बैठ जाती हैं। जैसा यह दृष्टान्त है, वैसे ही वाक्, मन, चक्षु और श्रोत्रादि भी हो गये। उसके बाद वे वागादि अपनी अश्रद्धा को त्यागकर प्राण की महिमा को समझकर सन्तुष्ट हो प्राण की स्तुति करने लगे ॥४॥

---

१. प्राणोपासकेन प्रत्यहं पठनीयं प्राणदेवतास्तोत्रं चक्षुरादिदेवैः प्रणीतमाह—एष इत्यादिना। २. वृत्तमुक्त्वा दृष्टान्तेन स्पष्टयति—तत्तत्रेत्यादिना। ३. समासान्तविधेरनित्यत्वमाश्रित्याह—स्वराजानमिति, एवमुत्तरत्र। ४. विकरणव्यत्ययश्छान्दस इति व्याचष्टे—स्तुवन्तीति, कालव्यत्ययात्तुष्टुवुरित्यर्थः। ५. कथमिति—कथं तुष्टुवुरित्याकाङ्क्षायां यथाऽसौ तैरस्तावि तथा तत्स्तोत्रं पठतीत्यर्थः। ६. तपतीत्यनुषङ्ग इति—अयमनुषङ्गः प्रकाशते इति भाष्येणासङ्गः। ७. सप्तसप्तवायुगणा इति—सप्तानां वायूनां गणः सप्तवायुगण एकस्तादृशाः सप्तेत्येकोनपञ्चाशदित्यर्थः।

अरा इव रथनाभौ प्राणे सर्वं प्रतिष्ठितम् । ऋचो यजूꣳषि सामानि यज्ञः क्षत्त्रं ब्रह्म च ॥६॥

प्रजापतिश्चरसि गर्भे त्वमेव प्रतिजायसे । तुभ्यं प्राण

जैसे रथ की नाभि में अरे लगे रहते हैं, वैसे ही ऋक्, यजुः और साम (तीन प्रकार के मन्त्र), उनसे निष्पन्न यज्ञ तथा ब्राह्मण-क्षत्रिय ये सब प्राण में ही स्थित हैं ॥६॥

हे प्राण ! तू ही प्रजापति है, तू ही गर्भ में विचरता है और (माता-पिता के अनुरूप होकर)

सन्वर्षति । किञ्च मघवानिन्द्रः सन्प्रजाः पालयति जिघांसत्यसुररक्षांसि । एष वायुरावह-प्रवहादिभेदः । किं चैष पृथिवी रयिर्देवः सर्वस्य जगतः सन्मूर्तमसदमूर्तं चामृतं च यद्देवानां स्थितिकारणं किं बहुना ॥५॥

अरा इव रथनाभौ श्रद्धादि नामान्तं सर्वं स्थितिकाले प्राण एव प्रतिष्ठितम् । तथर्चो यजूंषि सामानीति त्रिविधा मन्त्रास्तत्साध्यश्च यज्ञः क्षत्त्रं च सर्वस्य पालयितृ ब्रह्म च यज्ञादिकर्मकर्तृत्वेऽधिकृतं चैवैष प्राणः सर्वम् ॥६॥

किञ्च—

गणास्तथाभूतः सन्मेघाञ्ज्योतिश्चक्रादींश्च वहतीति शेषः । एष देवः पृथिवी सन्सर्वस्य जगतो धारयिता रयिश्चन्द्रः सन्सर्वं पुष्णातीत्यर्थः ॥५॥

श्रद्धादीति । प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिराप इत्यादिना वक्ष्यमाणषोडशकलात्मकमित्यर्थः । ब्रह्म चेति । ब्राह्मणजातिरित्यर्थः । [1]चशब्दार्थमाह—यज्ञादीति । अधिकृतं सर्वमेवेत्यन्वयः ॥६॥

किस प्रकार स्तुति करने लगे ? इसे बतलाते हैं—प्राण अग्नि होकर प्रज्वलित होता है और यह सूर्य होकर प्रकाशित होता है एवं मेघ बनकर बरसता है, यही इन्द्र होकर प्रजा का पालन करता है एवं असुर और राक्षसों का वध करना चाहता है । आवह-प्रवह आदि भेदों वाला वायु भी यही है, विशेष क्या कहें, यही देव पृथिवी और चन्द्रमारूप से सम्पूर्ण जगत् का धारक और पोषक है । स्थूल सूक्ष्म, सदसद्रूप यही है और देवताओं की स्थिति का कारणरूप अमृत भी यही है ॥५॥

प्राण सबका आश्रय है

जैसे रथ की नाभि में अरे जुड़े होते हैं, वैसे ही जगत् को स्थिति काल में श्रद्धा से लेकर नाम पर्यन्त सम्पूर्ण विश्व प्राण में ही प्रतिष्ठित है एवं ऋक्, यजुः और साम, ऐसे त्रिविध मन्त्र उन मन्त्रों से सम्पन्न होने वाला यज्ञ, सबका पालन करने वाला क्षत्रिय और यज्ञादि कर्मों के अधिकारी ब्राह्मण; ये सभी प्राण ही हैं ॥६॥

प्राण की स्तुति

जो प्रजापति है, वह भी तू ही है, गर्भ में तू ही संचरण करता है और माता-पिता के प्रतिरूप

---

१. ब्रह्म चेति—चाद्वैश्यादिपरिग्रहः । २. चशब्दार्थमाहेति—न किञ्चिदेतद् ब्रह्मशब्दार्थ एव ह्ययं सर्वस्य पालयित्रिति क्षत्रशब्दार्थ इवेत्यवधेयम् ।

प्रजास्त्विमा बलिं हरन्ति यः प्राणैः प्रतितिष्ठसि ॥७॥
देवानामसि वह्नितमः पितॄणां प्रथमा स्वधा ।
ऋषीणां चरितं सत्यमथर्वाङ्गिरसामसि ॥८॥

तू ही जन्म लेता है। ये मनुष्यादि सम्पूर्ण प्रजाएँ तुझे ही (चक्षुरादि इन्द्रियों द्वारा) उपहार समर्पण करती हैं क्योंकि जो उन इन्द्रियों के साथ भोक्ता रूप से स्थित है, वह तू ही है ॥७॥

देवताओं के लिये तू श्रेष्ठ वह्नितम है। नान्दीमुखादि श्राद्धों में पितरों के लिए प्रथम स्वधा तू है और अथर्वा श्रुति के अनुसार अङ्गों का रस रूप तू है अर्थात् देह धारणादि के लिये सत्य आचरण रूप तू है ॥८॥

यः प्रजापतिरपि स त्वमेव गर्भे चरसि पितुर्मातुश्च प्रतिरूपः सन्[1] प्रतिजायसे प्रजापतित्वादेव प्रागेव सिद्धं तव मातृपितृत्वं सर्वदेहदेह्याकृतिच्छद्मनैकः प्राणः सर्वात्मासीत्यर्थः। तुभ्यं त्वदर्थं या इमा मनुष्याद्याः प्रजास्तु हे प्राण चक्षुरादिद्वारैर्बलिं[2] हरन्ति। यस्त्वं प्राणैश्चक्षुरादिभिः सह प्रतितिष्ठसि सर्वशरीरेष्वतस्तुभ्यं बलिं हरन्तीति [3]युक्तम्। [4]भोक्ता हि यतस्त्वं तवैवान्यत्सर्वं भोज्यम् ॥७॥

किञ्च—

देवानामिन्द्रादीनामसि भवसि त्वं वह्नितमो हविषां [5]प्रापयितृतमः। पितॄणां नान्दीमुखे श्राद्धे या पितृभ्यो दीयते स्वधाऽन्नं सा देवप्रदानमपेक्ष्य प्रथमा भवति। तस्या

किञ्चेति। यः प्रजापतिर्विराट् सोऽपि त्वमेवेत्यन्वयः। पितुर्गर्भे रेतोरूपेण मातुर्गर्भे पुत्ररूपेण यश्चरति पश्चात्तयोरेव प्रतिरूपः सन्सदृशः सन्यः प्रजायते स त्वमेव प्रजायस इत्यन्वयः। प्रतिशब्दार्थ उक्तः—प्रतिरूपः सन्निति। ननु प्राणस्य पुत्ररूपत्वमेवोक्तं न तु पितृमातृरूपत्वं तत्कस्मादत आह—प्रजापतित्वादेवेति। तस्य सर्वात्मत्वादित्यर्थः। निष्कृष्टार्थमाह—सर्वदेहेति। अत्रापि निष्कृष्टार्थमाह—भोक्ता हीति। अतस्तवैवेत्यतः शब्दाध्याहारेण योज्यम् ॥७॥

हविषां प्रापयितृतम इति। वह्निशब्दो वहनाद्वह्निरिति यौगिक इत्यर्थः। प्रथमा भवतीति।

होकर तू ही उत्पन्न होता है। प्रजापति होने के कारण तुझमें मातृत्व और पितृत्व तो पूर्व से ही सिद्ध है। तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण देह और देही के व्याज से अकेला तू प्राण ही सर्वात्मा है। हे प्राण! ये जो मनुष्यादि प्रजा हैं, वे नेत्रादि इन्द्रियों द्वारा तुझे ही उपहार भेंट करती हैं और तुम चक्षुरादि इन्द्रियों के साथ सम्पूर्ण शरीरों में प्रतिष्ठित हो इसीलिये वे लोग तुझे ही बलि समर्पित करते हैं और ऐसा करना उचित ही है क्योंकि तू ही भोक्ता है और अन्य सब तेरा ही भोज्य है ॥७॥ तू इन्द्रादि देवताओं

---

१. अत्र प्रतिजायस इति भाष्ये प्रतिशब्दष्टीकायां प्रजायस इत्यस्यां प्रशब्दश्चाधिकः २. बलिं हरन्ति—रूपादिविषयरूपां पूजामर्पयन्तीत्यर्थः। ३. युक्तमिति—दृष्टं हि लोके बहूनामुपरकर्तुः पूज्यत्वं यथा मण्डलेश्वराणामिति युक्तिमदित्यर्थः। ४. अनेन प्राणस्य भोक्तृत्वमस्मिञ्छरीरे निरधारीति सूचयन्नाह—भोक्ता हीत्यादिना। ५. प्रापयितृतम इति—स हि वह्निः स च त्वमेवेति भावः।

इन्द्रस्त्वं प्राण तेजसा रुद्रोऽसि परिरक्षिता ।
त्वमन्तरिक्षे चरसि सूर्यस्त्वं ज्योतिषां पतिः ॥९॥

हे प्राण ! तू परमेश्वर है, तू अपने तेज से (जगत् का संहार करने वाला) रुद्र है और (अपने सौम्यरूप से तू ही जगत् का) सर्वतो भावेन संरक्षक है। तू अन्तरिक्ष में सदा गमन करता है और तू ही समस्त ज्योतियों का अधिपति सूर्य है ॥९॥

अपि पितृभ्यः प्रापयिता त्वमेवेत्यर्थः। किञ्चर्षीणां चक्षुरादीनां प्राणानामङ्गिरसाम[1]ङ्गिरसभूतानाम[2]थर्वणां तेषामेव 'प्राणो वाऽथर्वा' इति श्रुतेः। चरितं चेष्टितं सत्यमवितथं देहधारणाद्युपकारलक्षणं त्वमेवासि ॥८॥

किञ्च—

इन्द्रः परमेश्वरस्त्वं हे प्राण ! तेजसा वीर्येण रुद्रोऽसि संहरञ्जगत्। स्थितौ च परिसमन्ताद्रक्षिता पालयिता परिरक्षिता त्वमेव जगतः सौम्येन रूपेण। त्वमन्तरिक्षेऽजस्रं चरसि [3]उदयास्तमयाभ्यां सूर्यस्त्वमेव च सर्वेषां ज्योतिषां पतिः ॥९॥

यज्ञादिदैवे (व) कर्मणि प्रथमं नान्दीमुखश्राद्धस्यावश्यकर्तव्यत्वात्सा प्रथमेत्यर्थः। ऋष गताविति धातोर्ज्ञानार्थत्वादृषिशब्दस्य ज्ञानजनकचक्षुराद्यर्थत्वमित्यर्थः। अङ्गिरसभूतानामिति। प्राणाभावेऽङ्गानां शोषदर्शनात्तेषामङ्गिरसत्वमित्यर्थः। मुख्यप्राणस्यार्थत्वं श्रुत्याऽभिहितं यद्यपि तथाऽपि चक्षुरादीनामपि तदंशत्वादथर्वशब्दार्थत्वमिति भावः ॥८॥

इहेन्द्रशब्देन परमेश्वरस्त्वमुच्यते मघवानित्यनेन त्विन्द्र उक्त इति भेदमाह—इन्द्रः परमेश्वर इति। वीर्येण संहारसामर्थ्येनेत्यर्थः। सौम्येनेति। विष्ण्वादिरूपेणेत्यर्थः ॥९॥

के लिये हवियों को पहुँचाने वालों में श्रेष्ठ वह्नि है। नान्दी मुख श्राद्ध में पितरों का जा अन्नमयो सुधा दी जाती है, वह देव प्रधान कर्म की अपेक्षा से प्रथम है। उस प्रथम सुधा को भी पितरों के पास पहुँचाने वाला तू ही है। इसोलिये पितृगण की प्रथम सुधा तुझे कहते हैं तथा चक्षुरादि प्राणरूप ऋषियों का जो "प्राणो वाऽथर्वा" इस श्रुति के अनुसार अंग के रस स्वरूप अथर्वा आंगिरस है। उनका देह धारण आदि में उपकारक आचरणरूप सत्य भी तू ही है ॥८॥

---

१. अकारलोपश्छान्दस इत्याशयेनाह—अङ्गिरसभूतानामिति। अङ्गो अवयवी देहस्तस्य रसभूतानां सारभूतानामित्यर्थः। २. अथर्वणामिति—अङ्गिनो रसभूतत्वात्पुष्टिजनकानामित्यर्थः। ३. गतेरप्रत्यक्षत्वादाह—उदयास्तमयाभ्यामिति। ताभ्यामनुमेयचरणोऽसीत्यर्थः। नहि सूर्यगतिः शकटादिगतिवद्दृश्येति तस्या उदयास्तमयाभ्यां लिङ्गाभ्यामनुमेयता स्थिरत्वे तु कुतस्ताविति। यद्वा निमित्ते तृतीया निमित्तं चेह फलं तथा चोदयास्तमयनिमित्तं चरसीत्यर्थः। किं वा तादर्थ्ये चतुर्थ्येवैषा तथा चोदयास्तमयार्थं तत्प्रयुक्तलोकव्यवहारार्थमजस्रं चरसीति यावत् (इत्थंभूतलक्षणे तृतीया। तथा चोदयास्तमयोपलक्षितश्चरसीत्यर्थः। एवं च जटाभिस्तापस इत्यत्र यथा जटाज्ञाप्यतापसत्ववानित्यर्थस्तथात्रोदयास्तमयज्ञाप्यचरण इत्यर्थ इत्यभिसंदधान आह—गतेरित्यादि टिप्पण्याम्)।

यदा त्वमभिवर्षस्यथेमाः प्राणते प्रजाः । आनन्दरूपास्तिष्ठन्ति [1]कामायान्नं भविष्यतीति ॥१०॥
व्रात्यस्त्वं प्राण[2]ैकर्षिरत्ता विश्वस्य सत्पतिः ।
वयमाद्यस्य दातारः पिता त्वं मातरिश्वनः ॥११॥

हे प्राण ! जब तू मेघ होकर बरसता है, तब तेरी यह सम्पूर्ण प्रजा सुख को प्राप्त हुए के समान स्थित होती है कि अब यथेच्छ अन्न उत्पन्न होगा ।।१०।।

हे प्राण ! तू (संस्कारकर्ता के अभाव में संस्कार हीन) व्रात्य है । तू आथर्वणों का एकर्षिनामक अग्नि होकर सम्पूर्ण हवियों का भोक्ता है तथा विश्व का सत्पति है । आज हम तेरे लिये भक्ष्य देने वाले हैं । हे मातरिश्वन् ! तू हमारा पिता है ।।११।।

यदा पर्जन्यो भूत्वाऽभिवर्षसि त्वमथ तदाऽन्नं प्राप्येमाः प्रजाः प्राणते प्राणचेष्टां कुर्वन्तीत्यर्थः । [3]अथवा प्राण ते तवेमाः प्रजाः स्वात्मभूतास्त्वदन्नसंवर्धितास्त्वदभिवर्षणदर्शनमात्रेण चाऽऽनन्दरूपाः सुखं प्राप्ता इव सत्यस्तिष्ठन्ति । कामायेच्छातोऽन्नं भविष्यतीत्येवमभिप्रायः ॥१०॥

किञ्च—

प्रथमजत्वादन्यस्य संस्कर्तुरभावादसंस्कृतो व्रात्यस्त्वं स्वभावत एव शुद्ध इत्यभिप्रायः । हे प्राणैकर्षिस्त्वमाथर्वणानां प्रसिद्ध एकर्षिनामाऽग्निः सन्नत्ता सर्वहविषाम् ।

॥१०॥

असंस्कृत इति । **संस्कारहीनो व्रात्य इति स्मृतेरित्यर्थः । अनेन स्वतः शुद्धत्वं विवक्षितमित्याह—**

हे प्राण ! तू परमेश्वर है, तू अपने सामर्थ्य से जगत् का संहारक रुद्र है और स्थिति के समय सोम्यरूप से सभी ओर से जगत् पालन करने वाला है । उदय और अस्त द्वारा निरन्तर आकाश में गमन करने वाला, सम्पूर्ण ज्योतियों का अधिपति सूर्य तू ही है ।।९।।

जब तू मेघ होकर बरसता है, तब सम्पूर्ण प्रजा आनन्दित हुए की भाँति स्थित होती है अर्थात् तेरी वृष्टि के दर्शन मात्र से मानो अन्न पाकर प्राण क्रिया करते हैं अथवा यों समझो कि हे प्राण ! तेरे आत्मस्वरूप प्रजावर्ग तुझसे प्राप्त अन्न द्वारा वृद्धि को प्राप्त होते हैं । इसलिये तेरी वृष्टि के दर्शनमात्र से सुखी हुए की भाँति स्थित हैं, उसके आनन्दित होने का अभिप्राय यह है कि अब यथेच्छ अन्न उत्पन्न होगा (ऐसी उसकी आशा बन जाती है ।।१०।।

इसके अतिरिक्त सबसे प्रथम उत्पन्न होने के कारण किसी अन्य संस्कार कर्ता के अभाव में तू

---

१. कामायेति—तादर्थ्ये तुरीया । तदेव च कामार्थं भवितुं पारयति यत्तस्य पूरकं तथा च पर्याप्तमिति निर्गलित तदाह भाष्ये—इच्छात इति । यथेच्छमित्यर्थः । २. एकर्षिरिति—समासेऽप्यत्र "ऋत्यक" इति प्रकृतिभावः । ३. प्राणन्तीत्यस्य स्थाने प्राणते इतीयान् व्यत्ययो दुःसह इति विधान्तरमादत्ते—अथवा प्राणेति ।

या ते तनूर्वाचि प्रतिष्ठिता या श्रोत्रे या च चक्षुषि ।
या च मनसि संतता शिवां तां कुरु मोत्क्रमीः । १२॥

तेरा जो स्वरूप (वक्ता की) वाणी में स्थित है तथा जो श्रोत्र, नेत्र और मन में व्याप्त है, उसे शान्त करो। तुम उत्क्रमण न करो अर्थात् इस देह को अमंगलमय न बनाओ ॥१२॥

त्वमेव विश्वस्य सर्वस्य सतो विद्यमानस्य पतिः सत्पतिः । [1]साधुर्वा पतिः सत्पतिः । वयं पुनराद्यस्य तवादनीयस्य हविषो दातारः । त्वं पिता मातरिश्व हे मातरिश्वन्नोऽस्माकम् । अथ वा मातरिश्वनो वायोस्त्वम् । अतश्च सर्वस्यैव जगतः पितृत्वं सिद्धम् ॥११॥

किं बहुना—

या ते त्वदीया तनूर्वाची प्रतिष्ठिता वक्तृत्वेन [2]वदनचेष्टां कुर्वती । या श्रोत्रे या च चक्षुषि या च मनसि संकल्पादि व्यापारेण संतता समनुगता तनूस्तां शिवां शान्तां कुरु मोत्क्रमीरुत्क्रमणेनाशिवां मा कार्षीरित्यर्थः ॥१२॥

स्वभावत एवेति । मातरिश्वेति । मातरिश्व न इत्यत्र नलोपश्छान्दस इत्यर्थः । वायोस्त्वमिति । पितेत्यनुषङ्गः । अस्मिन्व्याख्याने वायुमात्रपितृत्वादस्मदादिसर्वपितृत्वमनुक्तं स्यादत आह—अतश्चेति । अस्मदादिसर्वजनकत्वाद्वायोस्तज्जनकस्याऽऽकाशात्मनः प्राणस्य सर्वजनकत्वं सिद्धमित्यर्थः ॥११॥

वाचि प्रतिष्ठितेति । वाच्यपानरूपा तनूः प्रतिष्ठिता । श्रोत्रे व्यानरूपा । चक्षुषि प्राणरूपा । मनसि समानरूपा । स प्राणस्तच्चक्षुः स व्यानस्तच्छ्रोत्रं सोऽपानः सा वाक्स समानस्तन्मन इति श्रुतेरित्यर्थः । उत्क्रमणेनेति । प्राणोत्क्रमणे सत्यपानाद्यात्मिका वागादिरूपा तनूरशिवा कार्यायोग्या स्यादित्यर्थः ॥१२॥

संस्कार हीन है अर्थात् स्वभावतः शुद्ध है। हे प्राण ! तू आथर्वणों का एकर्षि नामक प्रसिद्ध अग्नि होकर सम्पूर्ण हवियों का भोग करता है और तू ही सम्पूर्ण विद्यमान जगत् का पति होने से सत्पति है अथवा साधुपति होने के कारण तू सत्पति है। हम तो तेरे भक्ष्य हवि के दाता हैं। हे मातरिश्वा ! तू हमारा पिता है। अथवा यों समझो कि तू वायु का पिता है। अतः तुझमें सम्पूर्ण जगत् का पितृत्व सिद्ध है ॥११॥

बहुत क्या कहें, वक्तारूप से बोलने की चेष्टा करता हुआ तेरा जो स्वरूप वाणी में प्रतिष्ठित है और जो श्रोत्र, नेत्र एवं संकल्पादि व्यापार द्वारा मन में व्याप्त है, उसे शान्त करो, उत्क्रमण न करो। तात्पर्य यह कि उत्क्रमण करके उसे अमंगलमय न बनाओ ॥१२॥

---

१. एकदेशान्वयस्यासार्वत्रिकत्वादाह—साधुर्वेत्यादि । २. वदनचेष्टां कुर्वती वक्तृत्वेन रूपेण प्रतिष्ठितेत्यन्वयः ।

प्राणस्येदं वशे सर्वं त्रिदिवे यत्प्रतिष्ठितम् । मातेव पुत्रान्रक्षस्व श्रीश्च प्रज्ञां च विधेहि न इति ॥१३॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि द्वितीयः प्रश्नः ॥२॥

इस लोक में यह सब और स्वर्गलोक में देवादि के उपभोगरूप जो कुछ वैभव हैं, वे सब प्राण के ही अधीन हैं। जैसे माता पुत्रों की रक्षा करती है; वैसे ही तुम हमारी रक्षा करो तथा हमें श्री और प्रज्ञा प्रदान करो ॥१३॥

॥ इति द्वितीयः प्रश्नः ॥

किं बहुना—

[1]अस्मिल्लोके प्राणस्यैव वशे सर्वमिदं यत्किंचिदुपभोगजातं त्रिदिवे तृतीयस्यां दिवि च यत्प्रतिष्ठितं देवाद्युपभोगलक्षणं तस्यापि प्राण एवेशिता रक्षिता । अतो मातेव पुत्रानस्मान्रक्षस्व पालयस्व । त्वन्निमित्ता हि [3]ब्राह्म्यः [4]क्षात्त्रियाश्च श्रियस्तास्त्वं श्रीश्च श्रियश्च प्रज्ञां च त्वत्स्थितिनिमित्तां विधेहि नो विधत्स्वेत्यर्थः । इत्येवं सर्वात्मतया वागादिभिः प्राणैः स्तुतया गमितमहिमा प्राणः प्रजापतिरत्तेत्यवधृतम् ॥१३॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये द्वितीयप्रश्नः ॥२॥

ब्राह्म्य इति । ऋगादिमन्त्ररूपा ब्राह्म्यः श्रियः । ऋचः सामानि यजूंषि । सा हि श्रीरमृता सतामिति श्रुतेः । क्षात्त्र्यः प्रसिद्धा धनाद्यैश्वर्यरूपाः । अस्मिन्प्रश्ने निर्धारितं गुणं संगृह्याऽऽह—इत्येवमिति । इदं वरिष्ठत्वादेरुपलक्षणम् ॥१३॥

इत्यानन्दज्ञानविरचितप्रश्नोपनिषद्भाष्यटीकायां द्वितीयः प्रश्नः ॥२॥

बहुत क्या कहें, इस लोक में यह जो कुछ उपभोग साधन हैं, वे सब प्राण के ही अधीन हैं और तीसरे स्वर्गलोक में भी देवता आदि का जो उपभोग साधन है, उसका भी रक्षक प्राण ही है। अतः जैसे माता पुत्रों की रक्षा करती है, वैसे ही तू हमारा पालन कर। ब्राह्मण और क्षत्रियों की विभूतियाँ भी तेरे ही अधीन हैं, वह श्री और आप की स्थिति के निमित्त से होने वाली प्रज्ञा तू हमें प्रदान कर, यह इसका भावार्थ है।

इस प्रकार वागादि प्राणों के स्तुति करने से जिसकी महिमा सर्वात्मभाव दिखलायी गयी, वह प्राण ही प्रजापति और भोक्ता है, ऐसा निश्चय हुआ ॥१३॥

---

१. इति स्तुवन्तीति पूर्वेणान्वयः । २. इदमिति प्रत्यक्षवाचिवशादाह—अस्मिँल्लोक इति । ३. ब्राह्म्य इति—ब्राह्मोऽजाताविति टिलोपः । ४. क्षात्त्रिया इति—अत्र क्षात्त्र्य इत्येव पाठष्टीकानुरोधी न्याय्यश्च । यथाश्रुते तु स्वार्थण्णन्तात्क्षात्रशब्दादेकदेशविकृतमनन्यवदिति क्षत्त्रादघः । श्रियां च जन्यत्वेनापत्यत्वविवक्षेत्युपपत्तिरित्यवधेयम् ।

अथ तृतीय प्रश्नः

अथ हैनं कौसल्यश्चाऽऽश्वलायनः पप्रच्छ। भगवन्कुत एष प्राणो जायते कथमायात्यस्मिञ्शरीर आत्मानं वा प्रविभज्य कथं प्रातिष्ठते केनोत्क्रमते कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममिति ।।१।।

तत्पश्चात् अश्वल के पुत्र कौसल्य ने पिप्पलाद से पूछा—हे भगवन् ! यह प्राण किस कारण विशेष से उत्पन्न होता है और किस व्यापार विशेष से किस शरीर में आता है तथा शरीर में प्रविष्ट अपने को विभक्त कर किस प्रकार स्थित होता है फिर शरीर से उत्क्रमण क्यों करता है और किस प्रकार बाह्य तथा आभ्यन्तर शरीर को धारण करता है ।।१।।

अथ हैनं कौसल्यश्चाऽऽश्वलायनः पप्रच्छ। प्राणो ह्येवं प्राणैर्निर्धारिततत्त्वैरुपलब्धमहिमाऽपि संहतत्वात्स्यादस्य कार्यत्वमतः पृच्छामि। भगवन्कुतः कस्मात्कारणादेष यथावधृतः प्राणो जायते। जातश्च कथं केन वृत्तिविशेषेणाऽऽयात्यस्मिञ्शरीरे। किंनिमित्तकमस्य शरीरग्रहणमित्यर्थः। प्रविष्टश्च शरीर आत्मानं वा प्रविभज्य प्रविभागं कृत्वा कथं केन प्रकारेण प्रातिष्ठते प्रतितिष्ठति। केन वा वृत्तिविशेषेणास्माच्छरीरा-

---

एवं प्रजापतित्वात्तृत्वादिगुणजातं निर्धार्य प्राणस्योत्पत्त्यादि निर्धारयंस्तदुपासनां विधातुं प्रश्नान्तरमवतारयति—अथेति। वैदर्भिप्रश्नानन्तरमित्यर्थः। प्राणैरिति। यैर्वागादिप्राणैराकाशादिभिश्च प्राणस्य तत्त्वमुपलब्धं तैरित्यर्थः। प्राणस्य पूर्वोक्तमहिमत्वादेवोत्पत्तिशङ्काभावात्कुत इति प्रश्नानुपपत्तिमाशङ्क्याऽऽह—अपि संहतत्वादिति। अनेकात्मकत्वात्सावयवत्वादित्यर्थः। शरीरग्रहणमिति। शरीरप्रवेश इत्यर्थः। प्रातिष्ठत इति। आङ्प्रश्लेषाद्दीर्घत्वम् ।।१।।

तीसरा प्रश्न

प्राण के सर्गादि प्रकार का प्रश्न

तत्पश्चात् उन पिप्पलाद मुनि से अश्वल के पुत्र कौसल्य ने पूछा कि पूर्वोक्त प्रकार से चक्षुरादि इन्द्रियों के द्वारा जिसका स्वरूप निश्चित हो गया है और उसी से जिसकी महिमा का भी अनुभव हो चुका है, उस प्राण को संघात होने के कारण कार्यरूप ही होना चाहिये। इसीलिये हे भगवन् ! मैं पूछता हूँ कि जैसा पहले निश्चित हो चुका है, वैसा यह प्राण किस कारण विशेष से उत्पन्न होता है और उत्पन्न हुआ वह प्राण किस व्यापार विशेष से इस शरीर में आता है अर्थात् इसके शरीर ग्रहण का निमित्त क्या है और शरीर में प्रविष्ट हुआ अपने आपको अनेकों भाग में विभक्त कर किस प्रकार से उसमें प्रतिष्ठित होता है और किस व्यापार द्वारा पुनः इस शरीर से निकल जाता

तस्मै स होवाचातिप्रश्नान्पृच्छसि ब्रह्मि-
ष्ठोऽसीति तस्मात्तेऽहं ब्रवीमि ॥२॥

आत्मन एष प्राणो जायते। यथैषा पुरुषे छायैत-
स्मिन्नेतदाततं मनोकृतेनाऽऽयात्यस्मिञ्शरीरे ॥३॥

उससे आचार्य पिप्पलाद ने कहा—तू प्राणादि के उत्पत्ति विषयक अत्यन्त कठिन प्रश्न पूछता है फिर भी तू बड़ा ब्रह्मवेत्ता है। अतः मैं प्रसन्न होकर तेरे प्रश्नों का उत्तर देता हूँ ॥२॥

आत्मा से यह प्राण उत्पन्न होता है। जैसे लोक में मनुष्य शरीर से छाया उत्पन्न होती है, वैसे ही इस आत्मा में प्राण व्याप्त है तथा यह मनोजन्य संकल्पादि से इस शरीर में आता है ॥३॥

दुत्क्रमत उत्क्रामति। कथं बाह्यमधिभूतमधिदैवतं चाभिधत्ते धारयति कथमध्यात्ममिति ॥१॥

एवं पृष्टस्तस्मै स होवाचाऽऽचार्यः। प्राण एव तावद्दुर्विज्ञेयत्वाद्विषमप्रश्नार्हस्तस्यापि जन्मादि त्वं पृच्छस्यतोऽतिप्रश्नान्पृच्छसि। ब्रह्मिष्ठोऽसीत्य[1]तिशयेन त्वं ब्रह्मविदतस्तुष्टोऽहं तस्मात्ते तुभ्यं ब्रवीमि यत्पृष्टं शृणु ॥२॥

आत्मनः परस्मात्पुरुषादक्षरात्सत्यादेष उक्तः प्राणो जायते। कथमित्यत्र दृष्टान्तः।

विषमेति। विषमं दुर्घटं यथा तथा प्रश्नार्हं इत्यर्थः। अतिप्रश्नानिति। त्वदन्येषां प्रश्नानतिक्रान्तानन्यदीयप्रश्नागोचरान्सूक्ष्मप्रश्नान्प्रष्टव्यार्थानित्यर्थः। अतिशयेनेति। अपरब्रह्मापेक्षयाऽतिशयितमुख्यब्रह्मविदसि त्वमिति प्रोत्साहार्थं स्तौतीति भावः ॥२॥

"दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः, अक्षरात्परतः परः" "एतस्माज्जायते प्राणः" इति मन्त्रावत्र संवादयितुं तद्गतविशेणान्याह—परस्मादिति। अत्र दृष्टान्त इति। तस्यानृतत्वार्थं दृष्टान्त उच्यत

है एवं अधिभूत और अधिदैव विषयों को कैसे धारण करता है तथा देह, इन्द्रिय, अध्यात्म को कैसे धारण करता है? यहाँ पर 'धारयति' यह क्रिया शेष है (जिसका अध्याहार कर अर्थ करना चाहिये ॥१॥

महर्षि पिप्पलाद का उत्तर

इस प्रकार पूछने पर उस आचार्य ने उस कौशल्य से कहा—पहले तो दुर्विज्ञेय होने के कारण प्राण ही विषम विषय का प्रश्न है, उस पर भी तू तो उसकी उत्पत्ति आदि की बात पूछता है। अतः तू अतिप्रश्न पूछ रहा है। इससे जान पड़ता है कि तू अत्यन्त ब्रह्मवेत्ता है। इसीलिये तुझ से सन्तुष्ट हुआ मैं तुझे तेरे प्रश्न का उत्तर देता हूँ, तू सुन ॥२॥

---

१. स्वविषयकज्ञानवत्त्वसम्बन्धेनातिशयेन ब्रह्मवानितीष्ठनि विन्मतोर्लुगित्याशयेनाह—अतिशयेन त्वं ब्रह्मविदिति।

यथा सम्राडेवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते एतान्ग्रामानेतान्ग्रामानधितिष्ठस्वेत्येवमेवैष प्राण इतरान्प्राणान्पृथक्पृथगेव संनिधत्ते ।।४।।

जैसे राजा ही, "तुम इन ग्रामों में और तुम इन ग्रामों में निवास करा" इस प्रकार अधिकारियों को नियुक्त करता है, वैसे ही यह मुख्य प्राण भी अन्य इन्द्रियों को इनके स्थानों के अनुसार पृथक्-पृथक् नियुक्त करता है ।।४।।

यथा लोक एषा पुरुषे शिरःपाण्यादिलक्षणे निमित्ते छाया नैमित्तिकी जायते तद्वदेतस्मिन्ब्रह्मण्येतत्प्राणाख्यं छायास्थानीयमनृतरूपं तत्त्वं सत्ये पुरुष आततं समर्पितमित्येतत् छायेव देहे । मनोकृतेन मनःसङ्कल्पेच्छादिनिष्पन्नकर्मनिमित्तेनेत्येतद्वक्ष्यति हि पुण्येन पुण्यमित्यादि । "तदेव सक्तः सह कर्मणा" (बृ. ४.४.६) इति च श्रुत्यन्तरात् । आयात्यागच्छत्यस्मिञ्शरीरे ।।३।।

यथा येन प्रकारेण लोके राजा सम्राडेव ग्रामादिष्वधिकृतान्विनियुङ्क्ते । कथम् ? एतान्ग्रामानेतान्ग्रामानधितिष्ठस्वेति । एवमेव यथा दृष्टान्तः । एष मुख्य प्राण इतरा-

---

इत्यर्थः । छायेति । प्रतिबिम्बादिरूपेत्यर्थः । एतस्मिन्निति । प्रकृते जनक आत्मनि ब्रह्मणीत्यर्थः । कथमायातीत्यस्योत्तरमाह—मनोकृतेनेति । संधिरार्षः । तदेव सक्त इति । अस्य कर्मिणो मनो यस्मिन्फले निषक्तं संसक्तमासक्तः संस्तदेव फलं कर्मणा सहैतीति श्रुतौ च शरीरग्रहणं कर्मसाध्यमुक्तमित्यर्थः ।।३।।

आत्मानं वा प्रविभज्येत्यस्योत्तरं दृष्टान्तेनाऽऽह—यथेति । इतरानिति । इतरांश्चक्षुरादीन्यथास्थानमक्ष्यादिगोलकस्थाने संनिधत्ते संनिधापयति । आत्मभेदान्मुख्यप्राणस्य वृत्तिभेदान्प्राणापाना-

---

प्राण की उत्पत्ति

यह पूर्वोक्त प्राण सत्य अक्षर परमात्म पुरुष से उत्पन्न होता है। कैसे ? इस पर यह दृष्टान्त है—जिस प्रकार लोक में हस्त, पादादि अवयव वाले पुरुष के रहने पर उससे होने वाली छाया उत्पन्न होती है। ठीक वैसे ही इस सत्य स्वरूप ब्रह्म में छाया स्थानीय यह मिथ्या तत्त्व व्याप्त है। छाया के समान मन के संकल्प और इच्छादि से निष्पन्न कर्म के कारण ही यह प्राण इस शरीर में आता है। ऐसा ही "पुण्य से पुण्यलोक को ले जाता है" इत्यादि श्रुति से आगे कहेंगे। यही बात "कर्मफल में आसक्त पुरुष अपने कर्म के सहित (तदनुरूप फल को प्राप्त करता है)" इस अन्य श्रुति से भी कही गयी है ।।३।।

इन्द्रियों का अधिष्ठाता प्राण

जिस प्रकार लोक में राजा ही अधिकारियों को ग्रामादि के अधिकार पद पर नियुक्त करता है। कैसे ? कि तुम इन-इन ग्रामों में निवास करो। जैसे यह दृष्टान्त है, ठीक वैसे ही यह मुख्य प्राण

पायूपस्थेऽपानं चक्षुःश्रोत्रे मुखनासि-
काभ्यां प्राणः स्वयं प्रातिष्ठते मध्ये तु
समानः। एष ह्येतद्धुतमन्नं समं नयति
तस्मादेताः सप्तार्चिषो भवन्ति ॥५।

यह प्राण गुदा और मूत्रेन्द्रिय में अपान को (मलमूत्र त्याग के लिये नियुक्त करता है) एवं मुख तथा नासिका से निकलता हुआ चक्षु और श्रोत्र में स्वयं सम्राट् रूप से स्थित रहता है और मध्य में समान रहता है। यह समान वायु ही खाये-पीये हुये अन्न जल को शरीर में सर्वत्र समभाव से ले जाता है। उसी जठराग्नि से शिरोवर्ती ये सात ज्वालाएँ उत्पन्न होती हैं ॥५॥

न्प्राणांश्चक्षुरादीनात्मभेदांश्च पृथक्पृथगेव यथास्थानं संनिधत्ते विनियुङ्क्ते ॥४॥

तत्र विभागः—

पायूपस्थे पायुश्चोपस्थश्च पायूपस्थं तस्मिन् । अपानमात्मभेदं मूत्रपुरीषाद्यपनयनं कुर्वंस्तिष्ठति संनिधत्ते। तथा चक्षुःश्रोत्रे चक्षुश्च श्रोत्रं च चक्षुःश्रोत्रं तस्मिंश्चक्षुःश्रोत्रे। मुखनासिकाभ्यां च मुखं च नासिका च ताभ्यां मुखनासिकाभ्यां च निर्गच्छन्प्राणः स्वयं सम्राट्स्थानीयः प्रातिष्ठते प्रतितिष्ठति। मध्ये तु प्राणापानयोः स्थानयोर्नाभ्याम्। समानोऽशितं पीतं च समं नयतीति समानः। एष हि यस्माद्यदेतद्धुतं भुक्तं पीतं चाऽऽत्माग्नौ प्रक्षिप्तमन्नं समं नयति तस्मादशितपीतेन्धनादग्नेरौदर्याद्धृदयदेशं

दीन्पाय्वादिषु नियुङ्क्त इति। अत्र श्रुत्या नेत्रादीनां चक्षुरादिस्थानानां स्पष्टत्वात्तानि नोक्तानीति द्रष्टव्यम् ॥४॥

यः कुर्वंस्तिष्ठति तं संनिधत्ते विनियुङ्क्त इत्यर्थः। मध्य इति। प्राणापानयोर्मध्ये या नाभिस्तस्यां समानः प्रतितिष्ठतीत्यन्वयः। समानशब्दार्थमुक्तं श्रुत्यारूढं करोति—एष हीति। आत्माग्नाविति। आत्मनि शरीरेऽग्निर्जाठराग्निस्तस्मिन्नित्यर्थः। एवं हुतपदबलादन्नस्य हविष्ट्वं जाठराग्नेराहवनीयत्वं प्रक्षेपस्य होमत्वं चोक्त्वा शीर्षण्यसप्तद्वारान्निर्गतानां ज्ञानानामर्चिष्ट्वं वक्तुं तस्मादेता इति वाक्यं व्याचष्टे—तस्मादिति। प्राप्तादिति। अग्नेरौदर्याद्धेतोः प्राप्तपरिपाकादन्नरसादन्ननाडीद्वारा

भी अपने ही विशेषरूप नेत्रादि अन्य प्राणों को पृथक्-पृथक् उनके स्थानों के अनुसार नियुक्त करता हैं ॥४॥

पञ्च प्राण की स्थिति

वहाँ पर विभाग इस प्रकार है—यह प्राण अपना ही विशेष रूप अपान को गुदा और मूत्रेन्द्रिय में मूत्र और मल आदि को निकालते हुए नियुक्त करता है और मुख एवं नासिका इन दोनों से निकलता हुआ सम्राट् स्थानीय यह प्राण स्वयं चक्षु और श्रोत्र में प्रतिष्ठित रहता है एवं प्राण और अपान के स्थानों के मध्य नाभि प्रदेश में समान रहता है। खाये और पीये हुए पदार्थों को समीकरण

हृदि ह्येष आत्मा। अत्रैतदेकशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति ॥६॥

यह जीवात्मा हृदयाकाश में स्थित है, इस हृदयेश में एक सौ एक (प्रधान) नाड़ियाँ हैं। उनमें से प्रत्येक प्रधान नाड़ी की सौ-सौ शाखाएँ हैं और फिर उन सौ भेदों में से बहत्तर-बहत्तर हजार प्रति शाखा नाड़ियाँ हैं। इन सभी नाड़ियों में व्यान वायु विचरता है ॥६॥

प्राप्तादेताः सप्तसंख्याका अर्चिषो दीप्तयो निर्गच्छन्त्यो भवन्ति शीर्षण्य प्राणद्वारा दर्शनश्रवणादिलक्षणरूपादिविषयप्रकाशा इत्यभिप्रायः ॥५॥

हृदि ह्येष पुण्डरीकाकारमांसपिण्डपरिच्छिन्ने हृदयाकाश एष आत्माऽऽत्मना संयुक्तो लिङ्गात्मा, अत्रास्मिन्हृदय एतदेकशतमेकोत्तरशतं संख्यया प्रधाननाडीनां

देहं व्याप्तुं नाडीस्थानं हृदयं प्राप्तादन्नरसादिति शेषः। दर्शनद्वयं श्रवणद्वयं घ्राणद्वयं मुखं चैकं रस-(न)मिति सप्तार्चिषः। जाठराग्निपाकजन्यान्नरसबलेन दर्शनादीनां प्रवृत्तेस्तेषु तदर्चिष्ट्वारोप इत्यर्थः ॥५॥

व्यानस्य नाड़ीरूपं स्थान दर्शयितुं नाडीनामुत्पत्तिस्थानं वक्तुमाह—हृदित्यादिना। हृदयस्य लिङ्गात्मस्थानत्वोक्तेः प्रयोजनं तु केचिद्योगिनो नाभिकन्दस्य नाड्युत्पत्तिस्थानत्वं वदन्ति तन्निराकरणं, तत्रैव लिङ्गात्मनः संचरणार्था नाड्यः। नाडीभिः प्रत्यवसृप्येत्यादिश्रुतेः। ततश्च लिङ्गात्मनो हृदयस्थानत्वे तत्संचारमार्गभूतनाडीनामपि तदेवोत्पत्तिस्थानमन्यथा प्रदेशान्तरस्थनाडीनां तन्मार्गत्वायोगाद्द्वासप्ततिसहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्त इति श्रुतेश्चेति। [1]लिङ्गशरीरस्याऽऽत्मत्वमात्मोपाधित्वेन तद्योगादित्याह—आत्मना संयुक्त इति। यस्माल्लिङ्गात्मा हृदि वर्तते तत्संचारमार्गभूतनाडीनामपि तदेव स्थानमित्याह—अत्रेति। नाडीनां शरीरविधारकत्वेन प्रसिद्धत्वं वक्तुमेतदिति

करने के कारण जिसे समान कहते हैं क्योंकि यह समान वायु ही खाये और पीये देहान्तवर्ती जठराग्नि में डाले हुए अन्न को सम्पूर्ण शरीर में पहुँचाता है। इसीलिये खान-पानरूप ईंधन के द्वारा हृदय देश में प्राप्त जठराग्नि से ये मस्तक देश में रहने वाली सात दीप्तियाँ निकलती हैं। तात्पर्य यह है कि रूपादि विषयों को देखना-सुनना आदि प्रकाश प्राण से ही हुआ करते हैं ॥५॥

सूक्ष्म देह की स्थिति

आत्मा के सहित यह सूक्ष्म शरीर अर्थात् जीवात्मा कमल के समान आकार वाले मांस-पिण्ड से परिच्छिन्न आकाश में रहता है। इसी हृदयाकाश में एक सौ एक प्रधान नाड़ियाँ है, उनमें से प्रत्येक प्रधान नाड़ियों के सौ-सौ भेद हैं, पुनः प्रधान नाड़ी के सौ-सौ भेद में से प्रत्येक में बहत्तर-बहत्तर हजार

---

१. लिङ्गशरीरस्येत्यादि। यथा—वह्न्यपावेरयोगोलकादेरग्नियोगेनाग्नित्वव्यवहारस्तद्वदिति भावः।

अथैकयोर्ध्व उदानः पुण्येन पुण्यं लोकं नयति

तथा (उन एक सौ एक नाड़ियों में से सुषुम्ना की ऊर्ध्वगामिनी) एक नाड़ी द्वारा ऊपर को ओर जाने वाला उदान वायु (जीवात्मा को) शास्त्रोक्त कर्म से देवादि पुण्यलोक को प्राप्त कराता है

भवतीति। तासां शतं शतमेकैकस्याः प्रधाननाड्या भेदाः। पुनरपि द्वासप्ततिर्द्वासप्ततिर्द्वे द्वे सहस्रे अधिके सप्ततिश्च सहस्राणि। सहस्राणां द्वासप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि प्रतिप्रतिनाडीशतं संख्यया प्रधाननाडीनां सहस्राणि भवन्ति। आसु नाडीषु व्यानो वायुश्चरति। व्यानो व्यापनात्। आदित्यादिव रश्मयो हृदयात्सर्वतोगामिनीभिर्नाडीभिः सर्वदेहं संव्याप्य व्यानो वर्तते। संधिस्कन्धमर्मदेशेषु विशेषेण प्राणापानवृत्त्योश्च मध्य उद्भूतवृत्तिर्वीर्यवत्कर्मकर्ता भवति ॥ ६ ॥

विशेषणम्। तस्य स्पष्टत्वाद्भाष्ये न व्याख्यातम्। एकैकस्या नाड्याः शाखानाड्यः शतं शतं भवन्तीत्याह—तासामिति। ततश्च शतोत्तरमयुतं शाखानाड्य इत्यर्थः। शाखानाडीनां च प्रत्येकं द्व्यधिकसप्ततिसहस्राणि प्रतिशाखानाड्यः सन्तीत्याह—पुनरपीति। सप्ततिरिरितिपदस्य संख्याप्रधानत्वे सहस्राणोत्यस्य तेन सामानाधिकरण्यायोगात्षष्ठ्यन्ततया व्याचष्टे—सहस्राणामिति। प्रतिशाखेति। शाखाभ्यो निर्गता अल्पशाखाः प्रतिशाखाः। द्वासप्ततिरित्यत्र वीप्सार्थमाह—प्रतिप्रतीति। प्रतिप्रतिनाड़ीशतमित्यनन्तरमेकैकस्या इत्यनुषङ्गः। तथा च प्रतिप्रतिनाडीशतमेकंकस्या नाड्याः प्रतिशाखानाडीनां द्वासप्ततिसहस्राणि भवन्तीत्यर्थः। तथा च मूलशाखाप्रतिशाखानाड्यो मिलित्वा द्वासप्ततिकोट्यो द्वासप्ततिलक्षाणि दशसहस्रं च शतद्वयमेका च भवन्तीति द्रष्टव्यम्। एवं नाडीरुक्त्वा व्यानस्य तत्स्थानत्वमाह—आस्विति। सूक्ष्मासु नाडीषु विद्यमानस्य व्यानस्य कथं व्यापकत्वमित्याशङ्क्य नाडीनां सर्वदेहव्याप्तेस्तत्स्थस्यापि व्यानस्य तद्द्वारा व्याप्तिरित्याह—आदित्यादिवेति। यथाऽऽदित्याद्विनिर्गत्य रश्मयः सर्वतो गतास्तथा हृदयात्सर्वतोगामिन्यो नाड्यस्ताभिरिति योज्यम्। सामान्येन सर्वशरीरव्याप्तावपि विशेषस्थानमाह—संधीति। प्राणेति। उच्छ्वासनिश्वासयोः प्राणापानवृत्त्योरभावे व्यानवृत्तिरुद्भवतीत्यर्थः। वीर्यवदिति। "अथ यः प्राणापानयोः संधिः स व्यान:" (छा. १-३-३) इत्युक्त्वा "यानि वीर्यवन्ति कर्माणि बलवता पुरुषेण साध्यानि धनुरायमनादीनि तान्यप्राणन्ननपानन्करोती"ति श्रुत्यन्तरोक्तेरित्यर्थः ॥६॥

प्रतिशाखा नाड़ियाँ हैं (जा सब मिला के ७२७२१०२०१ बहत्तर करोड़, बहत्तर लाख, दस हजार, दो सौ एक नाड़ियाँ होती हैं) इन सभी नाड़ियों से व्यान वायु विचरता रहता है। व्यापक होने से उसे व्यान कहते हैं। सूर्य से जैसे किरणें निकलती हैं, वैसे ही हृदय से निकल कर सभी ओर फैली हुई नाड़ियों द्वारा व्यान वायु सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त कर रहता है। सन्धि स्थान, स्कन्ध प्रदेश और मर्म स्थलों से एवं विशेषरूप से प्राण-अपान वृत्तियों के मध्य में अभिव्यक्त व्यापार वाला यही प्राण वायु परा कर्म युक्त कर्मों का कर्ता होता है ॥६॥

पापेन पापमुभाभ्यामेव मनुष्यलोकम् ॥७॥

आदित्यो ह वै बाह्यः प्राण उदयत्येष ह्येनं चाक्षुषं प्राणमनुगृह्णानः । पृथिव्यां या देवता सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्यान्तरा यदाकाशः स समानो वायुर्व्यानः ॥८॥

और शास्त्र निषिद्ध पाप कर्म से तिर्यगादि पापमय लोक को ले जाता है, एवं पुण्य-पाप दोनों प्रकार के मिश्रित कर्मों द्वारा उसे मनुष्य लोक में ले जाता है ॥७॥

निश्चय आदित्य ही अधिदैवत बाह्य प्राण है। यह नेत्रस्थ चाक्षुष इस आध्यात्मिक प्राण पर अनुग्रह करता हुआ प्रकाशित होता है। पृथिवी में जो देवता है, वह पुरुष के अपान वायु को अपने अधीन करके रहता है। इन दोनों के मध्यवर्ती आकाशस्थ वह समान वायु है एवं इनसे भिन्न व्यापक वायु ही व्यान है ॥८॥

अथ या तु तत्रैकशतानां नाडीनां मध्य ऊर्ध्वगा सुषुम्नाख्या नाडी तयैकयोर्ध्वः सन्नुदानो वायुरापादतलमस्तकवृत्तिः संचरन्पुण्येन कर्मणा शास्त्रविहितेन पुण्यं लोकं देवादिस्थानलक्षणं नयति प्रापयति । पापेन तद्विपरीतेन पापं नरकं तिर्यग्योन्यादिलक्षणम्, उभाभ्यां समप्रधानाभ्यां पुण्यपापाभ्यामेव मनुष्यलोकं नयतीत्यनुवर्तते ॥७॥

आदित्यो ह वै प्रसिद्धो ह्यधिदैवतं बाह्यः प्राणः स एष उदयत्युद्गच्छति । एष

इदानीमुदानस्य स्थानं वदन्केनोत्क्रमत इत्यस्योत्तरमाह—या त्विति । उभाभ्यां समप्रधानाभ्यामिति । अनेन पुण्याधिक्ये देवलोकं पापाधिक्ये नरकलोकं नयतीति 'पूर्वं[1] व्याख्यातं भवति ॥७॥

कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममित्यस्योत्तरमाह—आदित्य इति । या देवता प्रसिद्धेति ।

मरणोत्तर प्राणोत्क्रमण का प्रकार

उन एक सौ एक नाड़ियों के मध्य में से जो सुषुम्ना नाड़ी ऊर्ध्वगामिनी है, केवल उसी के द्वारा ऊपर की ओर बहने वाला, पैर से मस्तक पर्यन्त संचरण करने वाला, उदान वायु है। जो शास्त्र विहित पुण्यकर्मों के फल स्वरूप देवादि स्थानरूप पवित्रलोक को ले जाता है और उसके विपरीत पाप कर्म के फलस्वरूप तिर्यक् योनि आदिरूप नरक लोक को ले जाता है और सामान्यतः पुण्य-पाप दोनों कर्मों के फलस्वरूप वही उदान वायु जीव को मनुष्य लोक में ले जाता है। यहाँ पर 'नयति' इस क्रिया की अनुवृत्ति सर्वत्र होती है ॥७॥

अधिदैवत रूप बाह्य प्राणादि का वर्णन

यह प्रसिद्ध आदित्य ही अधिदैवत स्वरूप बाह्य प्राण है, वही यह ऊपर की ओर जाता है

---

१. पूर्वमिति—पुण्येनेत्यादिवचनमित्यर्थः ।

ह्यनमाध्यात्मिकं चक्षुषि भवं चाक्षुषं प्राणं प्रकाशेनानुगृह्णानो रूपोपलब्धौ चक्षुष आलोकं कुर्वन्नित्यर्थः । तथा पृथिव्यामभिमानिनी या देवता प्रसिद्धा सैषा पुरुषस्यापानमपानवृत्तिमवष्टभ्याऽऽकृष्य वशीकृत्याध एवापकर्षणेनानुग्रहं कुर्वती वर्तत इत्यर्थः । अन्यथा हि शरीरं गुरुत्वात्पतेत्सावकाशे वोद्गच्छेत् । यदेतदन्तरा मध्ये द्यावापृथिव्योर्य आकाशस्तत्स्थो वायुराकाश उच्यते । मञ्चस्थवत् । स समानः समानमनुगृह्णानो वर्तत इत्यर्थः । समानस्यान्तराकाशस्थत्वसामान्यात् । सामान्येन च यो बाह्यो वायुः स व्याप्तिसामान्या-

---

अग्निदेवता पृथिव्येव यस्याऽऽयतनमग्निर्लोक इति श्रुतेरग्निसम्बद्धा(न्धा?)वगमादित्यर्थः । अवष्टभ्येत्यनन्तरमध्याहारेण वाक्यं पूरयति—अध एवापकर्षणेनेति । वृत्तार्थं स्तम्भादेरूर्ध्वमुखेन निखातस्य परितो विद्यमानरज्जुभिरध एवापकर्षणेन पतनाभाववदध एवापकर्षणेन शरीरस्य पतनाभावः सिध्यतीत्यर्थः । अनुग्रहमिति । शरीरधारणलक्षणमित्यर्थः । अन्यथेति । पृथिवीदेवताया विधारणाकरणे गुरुत्वादपानेनाध आकर्षणाच्च सावकाशे भूम्यादिपतनप्रतिबन्धकाभावस्थले पतेदित्यर्थः । अन्तरा यदाकाश इति वाक्यं व्याचष्टे—यदेतदिति । यदिति क्लीबत्वं छान्दसमित्याह—य आकाश इति । मञ्चस्थवदिति । मञ्चाः क्रोशन्तीत्यत्र मञ्चशब्देन मञ्चस्था यथा लक्ष्यन्ते तथाऽऽकाशशब्देन तत्स्थो वायुर्लक्ष्यत इत्यर्थः । स समान इति । सामानाधिकरण्यमनुग्राह्यानुग्राहकयोरभेदोपचारादित्याह—समानमनुगृह्णान इति । एवमुत्तरत्राप्यनुग्रहे हेतुमाह—समानस्येति । शरीरान्तराकाशस्थत्वं समानस्य द्यावापृथिव्यन्तराकाशस्थत्वं बाह्यवायोरित्यन्तराकाशस्थत्वं तयोस्तुल्यमित्यर्थः । वायुर्व्यान इत्यत्र त्वन्तराकाशस्थत्वविशेषरहितं वायुसामान्येन समुच्चीयत इति न पूर्वाभेद इत्याह—सामान्येनेति ॥८॥

और वही इस चाक्षुषरूप आध्यात्मिक प्राण को अपने प्रकाश से अनुगृहीत करता हुआ रूप की उपलब्धि में नेत्र को प्रकाश देता रहता है। चक्षु में रहने से उसे चाक्षुष कहा गया है तथा पृथिवी में जो प्रसद्धि उसका अभिमानी देवता है, वह पुरुष को अपानवृत्ति को अपनी ओर खींचकर उसे अपने अधीन कर लेता है। अभिप्राय यह है कि वह देवता नीचे की ओर अपानवृत्ति को आकृष्ट कर अनुग्रह करता हुआ स्थित रहता है; अन्यथा शरीर अपने भारीपन से गिर जाता या अवकाश मिलने के कारण फूल जाता। इस द्युलोक और पृथिवी के मध्य में जो आकाश है, उसमें रहने वाला वायु ही आकाश पद लक्ष्य है, 'मञ्चा क्रोशन्ति' यहाँ पर अजहल्लक्षणा द्वारा मञ्च का अर्थ मञ्चस्थ पुरुष किया जाता है, ठीक ऐसे ही आकाश शब्द का लक्षणा द्वारा उसमें स्थित रहने वाला वायु अर्थ किया गया है। वह आधिदैविक समान वायु आध्यात्मिक समान वायु के ऊपर अनुग्रह करता हुआ स्थित रहता है क्योंकि

---

१. ननु पतनाभावस्तु तदनुकूलप्रयत्नादेव न तत्र पृथिव्याकर्षणं हेतुरत आह—सावकाशे वेत्यादि ।
२. उद्गच्छेदिति—न चेदाकर्षेदधस्तात्पृथिवी कुतो नायमुद्गच्छेदुद्गन्तुमभिलष्यन्नपीति भावः । यद्वा उद्गच्छेदिति सततोर्ध्वगाम्युदानवृत्तिबलादूर्ध्वं गच्छेदित्यर्थः । ३. वृत्तार्थमिति—"वृत्तम् पद्ये चरित्रे" इत्यमरः । तथा च केचिन्नटाः मिथोबद्धवंशयुग्मद्वयं नातिदूरे भूमौ निखाय तदुपरि दृढां रज्जुं मातन्य तत्र नर्तनादि कुर्वन्तीति प्रसिद्धं तादृशं नटादिचरित्रं वृत्तं तदर्थमित्यर्थः । ४. विद्यमानेति—अत्र बध्यमानेति सुगमः पाठः ।
५. पृथिवीदेवताया इति—कर्तरि षष्ठी देवतयेति वा पाठः । ६. अन्तराकाशस्थत्वविशेषरहितं वायुसामान्यं समुच्चीयत इति पाठान्तरम् ।

तेजो ह वा उदानस्तस्मादुपशान्ततेजाः ।
पुनर्भवमिन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः ॥९॥

लोक प्रसिद्ध सूर्य तेज ही उदान है । अतः जिसकी शारीरिक ऊष्मा शान्त हो जाती है, वह मन में विलीन हुई वागादि इन्द्रियों के सहित देहान्तर को प्राप्त होती है ॥९॥

द्व्यानो व्यानमनुगृह्णानो वर्तत इत्यभिप्रायः ॥८॥

यद्बाह्यं ह वै प्रसिद्धं सामान्यं तेजस्तच्छरीर उदान उदानं वायुमनुगृह्णाति [१]स्वेन प्रकाशेनेत्यभिप्रायः । यस्मा[२]त्तेजःस्वभावो बाह्यतेजोनुगृहीत उत्क्रान्तिकर्ता तस्माद्यदा

तेजो ह वा इति वाक्यं व्याचष्टे—यद्बाह्यमिति । पूर्वमादित्यात्मकं विशेषतेज उक्तमत्र तेजः सामान्यमुच्यत इति न पौनरुक्त्यमित्याह—सामान्यं तेज इति । एवमादित्यादिना रूपेण मुख्यप्राणस्य प्राणापानसमानोदानव्यानानुग्राहकत्वोक्त्याऽध्यात्मं प्राणादिवृत्त्यनुग्राहकत्वमुक्तम् । आदित्याग्न्याकाशसामान्यवायुतेजोरूपी सन्बाह्यमधिदैवमादित्यादिकं धारयतीत्युक्तम् । तद्रूपेणावस्थानमेव तद्धारणम् । प्राणापानाद्यनुग्रहेण चक्षुराद्यनुग्रहोक्तेस्तद्द्वारा [३]तद्ग्राह्याधिभूतविधारकत्वमुक्तम् । स प्राणस्तच्चक्षुः सोऽपानः सा वाक्स व्यानस्तच्छ्रोत्रं स समानस्तन्मनः स उदानः स वायुरिति श्रुत्यन्तरे चक्षुरादीनां प्राणाद्यात्मत्वोक्तेश्चक्षुराद्यनुग्राहकत्वोक्त्या चक्षुरादिरूपाध्यात्मविधारकत्वं चोक्तमिति कथं बाह्यमभिधत्ते कथमध्यात्ममित्यस्योत्तरमुक्तमिति द्रष्टव्यम् । तेजस उदानवाय्वनुग्राहकत्वं व्यतिरेकप्रदर्शनेन साधयति—यस्मादिति । यस्मात्तेजः स्वभाव उत्क्रान्तिकृदप्युदानवायुर्बाह्यतेजोनुगृहीतः सन्नेव शरीरे वर्तते तस्मा[४]ज्जीवजीवनहेतुकर्मोपरमे बाह्यतेजोनुग्रहाभावेनोपशान्ततेजा मुमूर्षुर्भवतीत्यन्वयः ।

मध्याकाश में स्थित होना रूप समान बाह्य वायु की भाँति समान वायु के लिये साधारण है और सामान्यरूप से जो बाह्य वायु है, वह व्यापकता में शरीरान्तर्वर्ती व्यान वायु के समान होने के कारण व्यान है । इसीलिये आध्यात्मिक व्यान वायु पर अनुग्रह करता हुआ विद्यमान है ॥८॥

जो आदित्य नामक प्रसिद्ध बाहर सामान्य तेज है, वह शरीर में उदानरूप है । तात्पर्य यह है कि वह तेज अपने प्रकाश से आध्यात्मिक उदान वायु को अनुगृहीत करता रहता है, क्योंकि उत्क्रमण करने वाला उदान वायु तेजः स्वभाव है और वह बाह्य तेज से अनुगृहीत होता रहता है । इसीलिये जिस समय लौकिक पुरुष के शरीर में स्वाभाविक तेज शान्त हो जाता है, उस समय उस उपशान्त

---

१. स्वेन प्रकाशेनेति—स्वकीयौष्ण्येनेति यावत् । औष्ण्येन हि तेजोऽनुग्राह्यत्वं वायोर्देहे वातप्रकोपव्यथाया अग्न्याद्यौष्ण्योपधानेन प्रशमदर्शनात्प्रसिद्धमित्यवधेयम् । २. तेजःस्वभाव इति—उदानस्य तेजःस्वरूपत्वं तु तेजो ह वा उदान इति श्रुत्या तेजोऽनुग्राह्यत्वोक्त्यैवावगन्तव्यं प्रसिद्धं हि तैजसस्य चक्षुषः सूर्यादितेजोऽनुग्राह्यत्वमिति वाय्वात्मनोऽप्युदानस्य तेजःस्वभावत्वं पञ्चीकरणप्रक्रिया तेजोंऽशप्राचुर्यमाश्रित्योपपादनीयमित्यलम् । पञ्चीकरणप्रक्रियेति प्राणस्यापञ्चीकृतकार्यत्वे तु भाष्ये तेजःस्वभाव इत्यस्य व्याख्यानमेव बाह्यतेजोऽनुगृहीत इतीति विभावनीयम् । ३. तद्ग्राह्याधिभूतेति—चक्षुरादिग्राह्यरूपादिविषयात्मकाधिभूतेत्यर्थः । ४. जीवेति कर्मान्वयि ।

यच्चित्तस्तेनैष प्राणमायाति प्राणस्तेजसा युक्तः ।
सहाऽऽत्मना यथासंकल्पितं लोकं नयति ॥१०॥

जिसका जैसा चित्त संकल्प करता है, उस संकल्प के सहित यह जीव मुख्य प्राण वृत्ति को प्राप्त होता है तथा वह प्राण उदान वृत्तिरूप तेज से संयुक्त हो भोक्ता जीव के सहित संकल्पानुरूप लोक को प्राप्त करता है ॥१०॥

लौकिकः पुरुष उपशान्ततेजा भवति। उपशान्तं स्वाभाविकं तेजो यस्य सः। तदा तं क्षीणायुषं मुमूर्षुं विद्यात्। स पुनर्भवं शरीरान्तरं प्रतिपद्यते। कथम्? सहेन्द्रियैर्मनसि संपद्यमानैः प्रविशद्भिर्वागादिभिः ॥९॥

मरणकाले यच्चित्तो भवति तेनैष जीवश्चित्तेन संकल्पेनेन्द्रियैः सह प्राणं मुख्यप्राणवृत्तिमायाति। मरणकाले क्षीणेन्द्रियवृत्तिः सन्मुख्यया प्राणवृत्त्यैवावतिष्ठत इत्यर्थः।

स्वाभाविकमिति। [2]जाठराग्निकृतं हस्तादिना स्वशरीरस्पर्शे सत्युष्णत्वेनोपलभ्यमानं तेज इत्यर्थः। भवत्युत्पद्यत इति भवः शरीरमित्यर्थः। शरीरान्तरप्रतिपत्तिरात्मनोऽक्रियस्य न भवतीति शङ्कते—कथमिति। इन्द्रियोपाधिवशादित्याह—सहेति। मनसि सम्पद्यमानैरिन्द्रियैः सह शरीरान्तरं प्रतिपद्यत इति पूर्वेणान्वयः ॥९॥

उक्तशरीरान्तरप्राप्तिमेवोत्क्रान्तिक्रमप्रदर्शनेन स्पष्टीकर्तुं यच्चित्त इत्यादि वाक्यं तदपेक्षिताध्याहारं कुर्वन्व्याचष्टे—मरणेति। यच्चित्त इति। यदेव देवतिर्यगादिशरीरं सम्यगिति चित्ते यस्य

तेजवाले पुरुष को क्षीण आयु अर्थात् मरणासन्न जानना चाहिये। तब वह देहान्तर को प्राप्त कर लेता है, उस समय उस उपशान्त तेज वाले पुरुष को क्षीण आयु अर्थात् मरणासन्न जानना चाहिये। तब वह देहान्तर को प्राप्त कर लेता है। कैसे? मन में लीन हुई वागादि इन्द्रियों के सहित ही (वह देहान्तर में जाता है) ॥९॥

मरण कालिक संकल्प का परिणाम

मरते समय यह पुरुष जैसा चित्त वाला होता है, उसी संकल्प युक्त चित्त से यह जीव इन्द्रियों के सहित मुख्य प्राणवृत्ति को प्राप्त होता है। अभिप्राय यह है कि मरते समय (चित्त के सहित) इन्द्रियों के व्यापार क्षीण हो जाने पर यह जीव मुख्य प्राणवृत्ति से ही स्थित रहता है। उस समय

---

१. मनसीति मरणसमये इन्द्रियान्तरव्यापारोपरमेऽपि क्षणं मनोव्यापारावलोकनादिन्द्रियाणां मनःप्रवेशोऽवगम्यते स च तादात्म्येन मनःसंश्लेष एवेति ध्येयम्। २. जाठराग्निकृतमिति—इदं तु बाह्यतेजोऽनुग्रहाभावेनोपशान्ततेजा इति पूर्वोक्तिविरुद्धं प्रतिभाति स्वाभाविकस्य तेजसो बाह्यतेजोऽनुगृहीतोदानप्रयुक्तत्वे हि पूर्वोक्तं सङ्गच्छते। यद्वा जाठराग्निकृतस्य तेजसो बाह्यतेजोऽनुग्रहलिङ्गत्वमित्यभिप्रायेणैतदिति ध्येयम्।

य एवं विद्वान्प्राणं वेद । न हास्य प्रजा हीयतेऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥११॥

जो विद्वान् पुरुष पूर्वोक्त विशेषणों से युक्त प्राण को इस प्रकार जानता है, उसको पुत्र-पौत्रादि प्रजा नष्ट नहीं होती और (सायुज्य को प्राप्त हो जाने के कारण) वह अमर हो जाता है। इस विषय में यह मन्त्र है ॥११॥

तदा हि वदन्ति ज्ञातय उच्छ्वसिति जीवतीति । स च प्राणस्तेजसोदानवृत्त्या युक्तः सन्सहाऽऽत्मना स्वामिना भोक्त्रा स एवमुदानवृत्त्यैव युक्तः प्राणस्तं भोक्तारं पुण्यपापकर्मवशाद्यथासङ्कल्पितं यथाभिप्रेतं लोकं नयति प्रापयति ॥१०॥

यः कश्चिदेवं विद्वान्यथोक्तविशेषणैर्विशिष्टमुत्पत्त्यादिभिः प्राणं वेद जानाति तस्येदं फलमैहिकमामुष्मिकं चोच्यते । न हास्य नैवास्य विदुषः प्रजा पुत्रपौत्रादिलक्षणा हीयते

स यच्चित्त इत्यर्थः । प्राणं प्रत्यागमनं लोकव्यवहारेण प्रथयति—तदेति । तेजसा 'तेजोनुगृहीतयोदानवृत्त्येत्यर्थः । एवंभूतो भोक्त्रुदानसंयुक्तः प्राणः कं नयतीत्यपेक्षायां तमेव भोक्तारं नयतीति वदन्वाक्यार्थमाह—स एवमिति । एवकारस्य तमेवेत्यन्वयः । यथा संकल्पितमिति । कर्मज्ञानादिसाधना'नुष्ठानदशायां संकल्पितं मरणकाले वासनारूपेण पुनरभिव्यक्तं लोकं देवादिशरीरमित्यर्थः ॥१०॥

एवं प्राणस्वरूपं निर्धार्य तदुपासनं विधत्ते—यः कश्चिदिति । उत्पत्त्यादिभिर्यथोक्तविशेषणैर्विशिष्टम् । आत्मनः प्राणो जायते, मनःकृताभ्यां धर्माधर्माभ्यां शरीरं गृह्णाति । आत्मानं च

जाति वाले कहा करते हैं कि अभी स्वाँस लेता है। इसीलिये जीवित है, वह प्राण उदान वृत्ति रूप तेज से युक्त हो भोक्ता जीवात्मा रूप स्वामी के साथ मिल जाता है। इस प्रकार उदानवृत्ति से युक्त हुआ वह प्राण ही उस भोक्ता जीव को उसके पुण्य-पापरूप कर्म के फल स्वरूप संकल्पानुसार अभीष्ट लोकों को प्राप्त करा देता है ॥१०॥

जो कोई विद्वान् इस प्रकार पूर्वोक्त विशेषणों से विशिष्ट प्राण को उसकी उत्पत्ति आदि के सहित जानता है, उसी के लिये यह लौकिक और पारलौकिक फल कहा जाता है। उस विद्वान् की

---

१. जानातीति—उपास्तेऽनवरतमित्यर्थः । विद्वान् वेदेति वाचोयुक्तिबलादित्यवधेयम् । २. तेजोऽनुगृहीतयेति—इदं च यस्मात्तेजःस्वभाव उत्क्रान्तिकृदपीत्यादि पूर्वोक्त्या विरुध्यते। तत्र शरीरेऽवस्थितेरेव तेजोऽनुग्रहप्रयुक्तत्वभानादिह चोत्क्रान्तेस्तथात्वावगमात्। यद्वा उदानस्य तेजस्त्वोपपत्तिमात्रार्थमेवैतत् नोत्क्रान्तिकाले त्वनुग्रहो विवक्षित इत्यवधेयम्। उत्क्रान्त्यनुकूलमनुग्रहान्तरं वा विवक्ष्यतामित्यलम्। ३. अनुष्ठानदशायां संकल्पितमिति—ननु पापमनुतिष्ठन्नपि न प्रेप्सति नरकमिति चेदत्रोच्यते यद्यसौ श्रद्दधानो मन्यत एव तर्हि भविष्यत्यवश्यं नरक इति स एव तदानीं सङ्कल्पः विपरीतोऽनभिज्ञ एव वा चेदत्यन्त तस्य तर्हि शास्त्रप्रामाण्यान्मरणकाल एव तथोद्बोधः पापबलादिति मन्तव्यमिति ।

उत्पत्तिमायतिं स्थानं विभुत्वं चैव पञ्चधा ।
अध्यात्मं चैव प्राणस्य विज्ञायामृतम-
श्नुते विज्ञायामृतमश्नुत इति ॥१२॥
इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि तृतीयः प्रश्नः ॥३॥

प्राण की (परमात्मा से) उत्पत्ति (मनःसंकल्प से इस शरीर में) आगमन (पायूपस्थादि में) स्थान, पंचवृत्ति भेद के कारण व्यापकता एवं आदित्यादि बाह्य तथा चक्षुरादि आध्यात्मिक रूप से प्राण के भेद को जानकर साधक अमरत्व को प्राप्त कर लेता है ऐसा जानकर अमरत्व को प्राप्त करता है ॥१२॥

॥ इति तृतीयः प्रश्नः ॥

छिद्यते । पतिते च शरीरे प्राणसायुज्यतयाऽमृतोऽमरणधर्मा भवति तदेतस्मिन्नर्थे संक्षेपाभिधायक एष श्लोको मन्त्रो भवति ॥११॥

उत्पत्तिं परमात्मनः प्राणस्याऽऽयतिमागमनं मनोकृतेनास्मिञ्शरीरे स्थानं स्थितिं च पायूपस्थादिस्थानेषु विभुत्वं च स्वाम्यमेव [1]सम्राडिव प्राणवृत्तिभेदानां पञ्चधा

पञ्चधा विभज्य पायूपस्थयोरपानं स्वस्वरूपं प्राणं चक्षुःश्रोत्रयोः, नाभौ समानम्, नाडीसमूहे व्यानम्, उदानं च सुषुम्नायां स्थापयति । उदानेनोत्क्रामति, बाह्यैः प्राणापानसमानव्यानोदानानुग्राहकैरादित्यपृथिवीदेवताकाशवायुतेजोरूपैरधिदैवमादित्यादिकमादित्यादिकृतानुग्रहैरध्यात्मं [3]चक्षुर्वाक्श्रोत्रमनस्त्वक्चक्षुरादिग्राह्यमधिभूतं च धारयति । स एवोदानवृत्त्या भोक्त्रा च युक्तो भोक्तारं लोकान्तरं नयति । स एव च वरिष्ठः प्रजापतिरत्ता चेत्येवं [4]प्राणं वेदेत्यर्थः । ऐहिकफलमुक्त्वाऽऽमुष्मिकफलमाह—पतित इति । अमृतत्वं च नात्र मुख्यं किंतु प्राणसायुज्यमेवेत्याह—प्राणेति । इदं तु कामिनः, निष्कामस्य तु चित्तैकाग्र्यम् । तच्छुद्धिद्वारा मुख्यमेवामृतत्वं भवतीति द्रष्टव्यम् ॥११॥

आयतिमिति—आयातिमित्यर्थः । ह्रस्वत्वं छान्दसम् ॥१२॥

इति श्रीमदानन्दज्ञानविरचितप्रश्नोपनिषद्भाष्यटीकायां तृतीयः प्रश्नः ॥३॥

पुत्र-पौत्रादिरूप प्रजा उच्छिन्न नहीं होता है और शरीर के गिर जाने पर प्राण सायुज्य को प्राप्त हो जाने के कारण वह अमरण धर्मा हो जाता है । इस अर्थ में संक्षेपरूप से कहने वाला यह मन्त्र है ॥११॥

परमात्मा से प्राण की उत्पत्ति

मानसिक संकल्प से इस शरीर में आगमन, पायु, उपस्थादि स्थानों में उसकी स्थिति सम्राट् के समान प्राण का वृत्ति विशेष को पाँच प्रकार से यथा स्थान में स्थापित करना रूप प्रभुत्व तथा

---

१. इतीति—अस्य एव श्लोक इत्यनेन पूर्वगतेन सम्बन्धः २. सम्राडिवेति—अत्र सम्राज इवेति वक्तुं युक्तम् । ३. चक्षुर्वाक्श्रोत्रमनस्त्वगित्येतदध्यात्मं धारयतीत्यन्वयः । परमनयाऽनुपूर्व्येयतामेव ग्रहणे मूलं मृग्यम् । ४. प्राणं वेदेति—अहंग्रहेणेत्यवधेयम् । तत्सायुज्यस्यान्यथाऽनुपपत्तेः फलस्य भावनानुसारित्वात् ।

अथ चतुर्थः प्रश्नः ।

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ ।

उसके बाद इन पिप्पलाद महर्षि से सूर्य के पौत्र सौर्यायणो गार्ग्य ने पूछा—'हे भगवन ! इस

स्थापनम् । बाह्यमादित्यादिरूपेणाध्यात्मं चैव चक्षुराद्याकारेणावस्थानं [1]विज्ञायैव [2]प्राणममृतमश्नुत इति । विज्ञायामृतमश्नुत इति द्विर्वचनं प्रश्नार्थपरिसमाप्त्यर्थम् ॥१२॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये तृतीयः प्रश्नः ॥३॥

॥अथ चतुर्थः प्रश्नः ॥

अथ हैनं सौर्यायणी गार्ग्यः पप्रच्छ । प्रश्नत्रयेणापरविद्यागोचरं सर्वं परिसमाप्य संसारं व्याकृतविषयं साध्यसाधनलक्षणमनित्यम् । अथेदानीमसाध्यसाधनलक्षणमप्राणममनोगोचरमतीन्द्रियविषयं शिवं शान्तमविकृतमक्षरं सत्यं परविद्यागम्यं पुरुषाख्यं

एवं कर्मविद्यागतिश्रवणेन विरक्तस्य प्राणविद्यया चित्तैकाग्र्यतच्छुद्धिमतोऽत एव साधनचतुष्टयवतो मुख्याधिकारिणः परविद्योक्त्यर्थं प्रश्नत्रयमारभते—अथ हैनमिति । पूर्वविद्ययैवामृतत्वोक्तेरुत्तरप्रश्नारम्भो व्यर्थ इत्यत आह—प्रश्नत्रयेणेति । संसारमिति । अतो न तन्मुख्यममृतत्वमित्यर्थः । तस्य संसारत्वे व्याकृतत्वं हेतुमाह—व्याकृतविषयमिति । व्याकृताश्रयं तदन्तगतमित्यर्थः । साध्यसाधनलक्षणमिति । साध्यसाधनसम्बन्धेन लक्ष्यतेऽभिव्यज्यत उत्पद्यत इति तथा । [3]यद्वाऽपरब्रह्मणः प्राणस्य साध्यसाधनोभयात्मकत्वाद्वा तथा । तस्मादनित्यमित्यतोऽपि संसारत्वमित्यर्थः । वक्ष्यमाण आत्मा तु न तथेत्याह—असाध्येत्यादिना । अतीन्द्रियविषयमिति । इन्द्रियविषयत्वमतिक्रान्तमित्यव्याकृतमकार्यमित्यर्थः । तत्र हेतुः—अप्राणमिति । प्राणागोचरत्वेन तदात्मककर्मेन्द्रियागोचरत्वं मनोऽगोचरत्वेन ज्ञानेन्द्रियागोचरत्वमुक्तम् । सुखरूपतामाह—शिवमिति । निवृत्तानर्थत्वमाह—शान्तमिति । तत्र भावविकाररहितत्वं हेतुमाह—अविकृतमिति । अनेनोत्पत्तिपरिणामवृद्धयो निषिद्धाः । अक्षरमित्यपक्षयविनाशौ निषिद्धौ । उत्पत्तिनिषेधेन तदनन्तरभाव्यस्तित्वं निषिद्धम् । अत्र सर्वत्र हेतुः—सत्यमिति । कालत्रयेऽप्येकरूपमित्यर्थः । तत्र 'अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते' (मु.१-१-५) इत्यादि वाक्यं मानमाह—परविद्यागम्यमिति । "दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः" (मु.२-१-५) इति

आदित्य आदिरूप से बाहर और चक्षुरादिरूप से आन्तरिक स्थिति इस प्रकार प्राण को जानकर साधक अमरत्व को प्राप्त कर लेता है। इस मन्त्र में "विज्ञायामृतमश्नुते" इस पद की दो बार आवृत्ति प्रश्नोत्तर की समाप्ति के सूचनार्थ है॥१२॥

चतुर्थ प्रश्न

सुषुप्ति में सोने वाला और जागने वाला कौन है ?

उसके बाद उस पिप्पलाद मुनि से सौर्यायणी गार्ग्य ने पूछा। पिछले तीन प्रश्नों में अपरा विद्या

---

१. विज्ञायैवमिति—यथोक्तोत्पत्त्यादिमत्त्वेन ध्यात्वा चिरमहंग्रहेणेत्यर्थः । २. अमृतमिह प्राणसायुज्यमेव न मुख्यमित्याशयेन व्याचष्टे—प्राणममृतमिति । प्राणात्मकमेवामृतं तद्भावापत्तिरूपमेवेति यावत् । ३. यद्वेत्यादिपङ्क्तौ यद्वा वेत्यनयोरन्यतरदधिकम् ।

भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे कानि स्वपन्ति कान्यस्मिञ्जाग्रति कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यति कस्यैतत्सुखं भवति कस्मिन्नु सर्वे संप्रतिष्ठिता भवन्तीति ।।१।।

(सिर और हाथ पैर वाले) पुरुष में कौन इन्द्रियाँ सोती हैं, कौन इसमें जागती हैं, (जाग्रत् और स्वप्न के व्यापार समाप्त हो जाने पर) किसे यह सुख होता है और किसमें ये सभी इन्द्रियाँ प्रतिष्ठित होती हैं ।।१।।

सबाह्याभ्यन्तरमजं वक्तव्यमित्युत्तरं प्रश्नत्रयमारभ्यते ।

तत्र सुदीप्तादिवाग्नेर्यस्मात्परादक्षरात्सर्वे भावा विस्फुलिङ्गा इव जायन्ते तत्र चैवापियन्तीत्युक्तं द्वितीये मुण्डके, के ते सर्वे भावा अक्षराद्विभज्यन्ते । कथं वा विभक्ताः सन्तस्तत्रैवापियन्ति । किं लक्षणं वा तदक्षरमिति । एतद्विवक्षयाऽधुना प्रश्नानुद्भावयति ।

मन्त्रमप्याह—पुरुषाख्यमिति । कथं पुरुषशब्दोदितं पूर्णत्वं [1]बाह्याभ्यन्तरवस्तुभेदादत आह—सबाह्येति । स एव बाह्याभ्यन्तरात्मकस्तद्व्यतिरेकेण तदुभयं नास्तीत्यर्थः । प्रश्नत्रयमिति । यद्यपि पञ्चमः प्रश्नोऽपरविद्याविषय एव प्रणवोपासनविषयत्वात्तथाऽपि तस्य क्रममुक्तिफलत्वेन निर्विशेषात्मन्येव सविशेषब्रह्मप्राप्तिद्वारा पर्यवसानात्सोऽपि परविषय एवेति भावः ।

एवं सामान्येन प्रश्नत्रयस्यापि सम्बन्धमुक्त्वा चतुर्थप्रश्नस्य [2]प्रातिस्विकसम्बन्धमाह—तत्रेति । यस्मादित्यस्य किंलक्षणं वा तदक्षरमिति तच्छब्देनान्वयः । उक्तमिति । यथा सुदीप्तात्पावकाद्विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपास्तथाऽक्षराद्विविधाः सोम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्तीति मन्त्रेणेत्यर्थः । एतद्विवक्षयेति । मन्त्रोक्तार्थविस्तरानुवादित्वादस्य ब्राह्मणस्येति भावः । अत्राक्षरस्वरूपस्यैव विवक्षितत्वात्तन्निर्णयार्थं कानि स्वपन्तीत्यादिप्रश्नो जागरितादिना धर्मिविशेषनिर्धारणार्थः, अन्यथा

के विषय व्याकृत जगत् के आश्रित साध्य-साधनरूप अनित्य संसार का निरूपण परिसमाप्त कर अब साध्य-साधन से पृथक् तथा प्राण, मन और इन्द्रियों के अविषय परविद्या से जानने योग्य शिव, शान्त, निर्विकार, अक्षर, सत्य और बाहर-भीतर सर्वत्र विद्यमान अजन्मा पुरुष नामक तत्त्व को बतलाना है । इसीलिये आगे के शेष तीन प्रश्न आरम्भ किये जाते हैं । वहाँ पर द्वितीय मुण्डक में यह बात कही गयी थी कि अच्छी प्रकार से प्रदीप्त हुए जैसे चिनगारियाँ निकलती हैं, उसी प्रकार जिस पर अक्षर से सम्पूर्ण भाव पदार्थ उत्पन्न होते हैं और पुनः उसी में लीन हो जाते हैं इत्यादि । उस अक्षर परमात्मा से विभक्त होने वाले वे सभी भाव पदार्थ कौन-कौन से हैं ? उससे विभक्त होकर वे पुनः किस प्रकार उसी में लीन होते हैं और वह अक्षर तत्त्व किन लक्षणों वाला है ? इन सब बातों को बतलाने के

---

१. बाह्येत्यादि—यद्बाह्यं न तदाभ्यन्तरं यच्चाभ्यन्तरं न तद्बाह्यं विरोधात् तथा चात्मनो बाह्यत्वेनाभ्यन्तरत्वमाभ्यन्तरत्वे तु न स्याद्बाह्यत्वमिति कथं पूर्णत्वमिति भावः । २. प्रातिस्विकमसाधारणम् ।

भगवन्नेतस्मिन्पुरुषे शिरःपाण्यादिमति कानि करणानि स्वपन्ति स्वापं कुर्वन्ति स्वव्यापारादुपरमन्ते कानि चास्मिञ्जाग्रति जागरणमनिद्रावस्थां स्वव्यापारं कुर्वन्ति। कतरः कार्यकरणलक्षणयोरेष देवः स्वप्नान्पश्यति। स्वप्नो नाम जाग्रद्दर्शनान्निवृत्तस्य जाग्रद्वदन्तःशरीरे यद्दर्शनम्। तत्किं कार्यलक्षणेन देवेन निर्वर्त्यते किंवा करणलक्षणेन केनचिदित्यभिप्रायः। उपरते च जाग्रत्स्वप्नव्यापारे यत्प्रसन्नं निरायासलक्षणमनाबाधं सुखं कस्यैतद्भवति। तस्मिन्काले जाग्रत्स्वप्नव्यापारादुपरताः सन्तः कस्मिन्नु सर्वे

तेषामात्मधर्मत्वशङ्कायां तन्निर्विशेषत्वनिर्णयासिद्धेः। भावानां स्वरूपविभागादिविवक्षा तु ताः पुनः पुनरुद्यतः प्रवरन्तीति दृष्टान्तबलाद्यत्रैकीभावस्ततो विभागेन निर्गमनमित्यक्षर एकीभूतानां पृथिव्यादिकार्यकरणानामक्षराद्विभागप्रतीतेस्तावन्मात्रेण भाष्य उक्तेति द्रष्टव्यम्। तत्राऽऽद्यप्रश्नेन जागरितस्य धर्मो पृष्टः। स्वप्ने यस्य व्यापारोपरमे जागरितं नास्ति स तस्य धर्मीति निश्चेतुं शक्यत्वात्। द्वितीयेनावस्थात्रयेऽपि शरीररक्षणं कस्य धर्म इति पृष्टम्। जाग्रतोऽनुपरतव्यापारस्य प्राणस्य देहरक्षकत्वोपपत्तेः। तृतीयेन स्वप्नस्य धर्मो पृष्टः। चतुर्थेन सुषुप्तिधर्मी, सुखमहमस्वाप्समिति सुप्तोत्थितस्य परामर्शे सुखस्य सुषुप्तिसंबन्धावगमात्। पञ्चमप्रश्नेनावस्थात्रयविनिर्मुक्तमवस्थात्रयपर्यवसानभूमिरूपं तुरीयमक्षरं पृष्टमिति विवेकः। कार्येति। कार्यं शरीरं प्राणो वा, करणानि मनआदीनि। पदार्थानुक्त्वा वाक्यार्थं पिण्डीकृत्याऽऽह—तत्किमिति। तत्पदं पूर्वापरयोः संबध्यते—प्रसन्नमिति। विषयसंपर्ककालुष्यरहितम्। [निरायासेति] निरायासेन विक्षेपाभावमात्रेण लक्ष्यतेऽभिव्यज्यते निर्ज्ञातस्यापितदोपालोकवदनाबाधं विनाशरहितं सत्यमात्मस्वरूपमित्यर्थः। एतदिति। सुषुप्ते प्रकाशमानं 'सुखमहमस्वाप्समितिपरामर्शमूलभूतमित्यर्थः। तस्मिन्काल इति। यद्यपि पञ्चमेन प्रश्नेन तुरीयं पृच्छ्यते न सुषुप्तिस्तथाऽपि संसारदशायां सर्वोपाधिरहिततुरीयावस्थाभावेन विवेकत एव तस्य प्रदर्शनीयत्वात्सुषुप्तावज्ञाने सत्यपीतरोपाधिराहित्येन तत्रैव सर्वोपाधिविवेककरणेन तुरीय-

---

लिये श्रुति अब अग्रिम प्रश्न को उठाती है। हे भगवन्! शिर-पैर वाले इस पुरुष में कौन इन्द्रियाँ सोती हैं अर्थात् अपने व्यापार से उपरत होती हैं तथा कौन इसमें जागती हैं अर्थात् अपना व्यापार करती हैं। कार्य-करण रूप देह-इन्द्रिय देवों में से कौन देव स्वप्न को देखता है? जाग्रत दर्शन से निवृत्त हुए जाव का शरीर के भीतर जो जाग्रत के समान विषयों को देखना है, उसे स्वप्न कहते हैं, क्या उसे कार्यरूप देव करता है अथवा करणरूप देव करता है, यह इसका भावार्थ है।

जाग्रत एवं स्वप्न का व्यापार उपरत हो जाने पर जो प्रसन्न आयास शून्य एवं निर्बाध सुख होता है, वह किसको होता है? उस समय जाग्रत जो स्वप्न के व्यापार से उपरत हुई सभी इन्द्रियाँ भली प्रकार एकत्रित हो किसमें स्थित होती हैं अर्थात् जैसे नाना वृक्षों के रस मधु में प्रविष्ट हो जाते

---

१. अनाबाधमित्यनन्तरं सत्यमिति विशेषणानन्तरं टीकाकृदभिमतम्। २. स्वप्ने इति—स्वाप इत्यर्थः। ३. तत्र तस्य प्रकाशमानत्वं साधयितुमाह—सुखमहमित्यादि। सुप्तोत्थितस्यैवं परामर्शान्यथाऽनुपपत्त्या तत्र तत्प्रकाशः सिध्यतीति भावः।

सम्यगेकीभूताः संप्रतिष्ठिताः। मधुनि रसवत्समुद्रं प्रविष्टनद्यादिवच्च विवेकानर्हाः प्रतिष्ठिता भवन्ति संगताः संप्रतिष्ठिता भवन्तीत्यर्थः। ननु न्यस्तदात्रादिकरणवत्स्वव्यापारादुपरतानि पृथक्पृथगेत्र स्वात्मन्यवतिष्ठन्त इत्येतद्युक्तं कुतः प्राप्तिः सुषुप्तपुरुषाणां

प्रदर्शनस्य सुकरत्वात्तस्मिन्काले तुरीयप्रदर्शनार्थं सर्वसंप्रतिष्ठोक्तेति। सम्यगेकीभूता इति। तदात्मभावप्राप्त्या विलयं गता इत्यर्थः। मधुनि रसवदिति। यथा नानापुष्परसा मधुन्येकी भवन्ति तद्वदित्यर्थः। [1]विवेकाभावमात्रेण दृष्टान्तावुक्तौ, तत्र सर्वात्मना लयाभावादित्याह—विवेकानर्हा इति। पूर्वं विवेकानर्हाः सन्त पश्चात्संप्रतिष्ठिता इत्यर्थः। न चानेनापि प्रश्नेनाविद्यावासनाभिरविविक्तः सौषुप्त एव पृष्ट इति शङ्क्यम्। पर आत्मन्यक्षरे संप्रतिष्ठत इति वक्ष्यमाणत्वा[2]त्सुषुप्ते चा[3]ज्ञान एव [4]संप्रतिष्ठानादे[5]ष हि द्रष्टेत्याद्यज्ञानप्रतिबिम्बितस्य भोक्तुरपि संप्रतिष्ठाया अभिधास्यमानत्वा[6]दच्छायमित्यज्ञानाभावोक्तेश्च तुरीयमेव पृष्टमिति भावः। ननु कार्यकारणव्यतिरिक्ते संप्रतिष्ठानाधिकरणे सामान्येन कस्मिंश्चिदवगते कस्मिन्संप्रतिष्ठिता इति विशेषप्रश्नो घटते। न च तस्यावगतिरस्ति न च संप्रतिष्ठानस्य साधिकरणत्वेन सामान्येनाधिकरणावगतिरस्तीति वाच्यम्। तत्तदुपादानानामेवाचेतनानां तदधिकरणत्वेन तदतिरिक्तस्य चेतनस्यासिद्धि(द्धे)रिति शङ्कते—नन्विति। दात्र नाम सस्यादिलवनार्थः शस्त्रविशेषः। स्वात्मनीति। स्वोपादान इत्यर्थः। सुषुप्तपुरुषाणां करणानामिति। सुषुप्तपुरुषाणां यानि करणानि तेषामित्यर्थः। एष हि द्रष्टेत्यादिना पुरुषाणामप्येकीभावस्य वक्ष्यमाणत्वाद्वा पुरुषाणामित्युक्तम्। अस्मिन्पक्षे करणानां चेति चकारो द्रष्टव्यः। प्रष्टुः शङ्कायाः कुतः

हैं और जैसे नदियाँ समुद्र में प्रविष्ट हो जाती हैं, वैसे ही प्रविष्ट हुई ये कार्य-करण पृथक् प्रतीति के अयोग्य होकर ये किसमें भली प्रकार प्रतिष्ठित होती हैं।

शंका—जैसे छेदन क्रिया के पश्चात् छोड़ी हुई दराँती आदि औजार (किसी अन्य में नहीं किन्तु अपने आप में) पड़ी रहती है। ऐसे ही अपने-अपने व्यापार से उपरत हुईं इन्द्रियाँ पृथक्-पृथक् अपने में ही स्थित होती हैं। (सब मिलकर किसी एक में नहीं) ऐसा समझना ही उचित है, फिर भला प्रश्न कर्ता को सुषुप्त पुरुषों को इन्द्रियों के किसी एक में एकत्रित हो जाने की आशंका कैसे हो सकती है?

१. ननु विषमौ दृष्टान्तौ सर्वथा हि लयस्तत्र पुनरनुत्थानात्प्रकृते तु न तथा जागरे पुनस्तत एवाविर्भावादित्याशङ्क्याऽऽह—विवेकाभावमात्रेणेते तन्मात्रांशे इति यावत्। तत्र हेतुमाह—तत्रेत्यादिना। तत्र सुषुप्ते। यद्वा तत्र दृष्टान्तयोः मध्वादिव्यक्तरूपेणैवावतिष्ठन्ते रसादय इति न सर्वथा विलयस्तत्र प्रकृते तु न व्यक्तमवतिष्ठत इति सर्वलय इति वैषम्याद्विवेकाभावमात्रांशे दृष्टान्ताविति भावः। २. ननूक्तश्रुतावात्मशब्दार्थः सौषुप्त एवास्त्विति न तद्विरोध इत्याशङ्क्याऽऽह—सुषुप्ते चेति। ३. अज्ञान एवेति—सौषुप्तव्यावृत्त्य एवकारः। ४. सम्प्रतिष्ठानादिति—संप्रतिष्ठानस्य त्वयाऽवश्यं वक्तव्यत्वादित्यर्थः। ५. तथा चोक्तश्रुतिविरोधस्तदवस्थ एव। तत्र हेतुमाह—एष इति। ६. उक्तश्रुतौ सौषुप्तस्यात्मशब्दार्थत्वाभावे सौषुप्तस्य पञ्चमप्रश्नविषयत्वाभावे वा हेत्वन्तरमाह—अच्छायमिति। यद्वा सौषुप्तस्य पञ्चमप्रश्नविषयत्वे श्रुत्यन्तरविरोधमाह—अच्छायमिति। उक्तश्रुतिस्थात्मशब्दार्थस्य पञ्चमप्रश्नविषयस्य वाऽज्ञानाभावोक्तेश्च न स सौषुप्त इति पञ्चमप्रश्ने तुरीयमेव पृष्टमिति भावः।

तस्मै स होवाच । यथा गार्ग्य मरीचयोऽर्क-स्यास्तं गच्छतः सर्वा एतस्मिंस्तेजोमण्डल एकी भवन्ति । ताः पुनः पुनरुदयतः प्रचरन्त्येवं ह

आचार्य ने उस प्रश्नकर्ता से कहा—'हे गार्ग्य ! जैसे सूर्य के अस्त हो जाने पर सम्पूर्ण किरणें उस तेजोमण्डल सूर्य में हा एकत्रित हो जाती हैं तथा उसी सूर्य के पुनः उदय होने पर वे रश्मियाँ उससे

करणानां कस्मिंश्चिदेकीभावगमनाशङ्कायाः प्रष्टुः । युक्तैव त्वाशङ्का । यतः संहतानि करणानि [1]स्वाम्यर्थानि परतन्त्राणि च जाग्रद्विषये तस्मात्स्वापेऽपि संहतानां पारतन्त्र्येणैव कस्मिंश्चित्संगतिर्न्याय्येति तस्मादाशङ्कानुरूप एव प्रश्नोऽयम् । [2]अत्र तु कार्यकरणसंघातो यस्मिंश्च प्रलीनः सुषुप्तप्रलयकालयो[3]स्तद्विशेषं [4]बुभुत्सोः स को नु स्यादिति [5]कस्मिन्सर्वे-संप्रतिष्ठिता भवन्तीति ॥१॥

तस्मै स होवाचाऽऽचार्यः । शृणु हे गार्ग्य ! यत्त्वया पृष्टम् । यथा मरीचयो रश्मयो-ऽर्कस्याऽऽदित्यस्यास्तमदर्शनं गच्छतः सर्वा अशेषत एतस्मिंस्तेजोमण्डले तेजोराशिरूप

प्राप्तिरित्यन्वयः । संहतानां परार्थत्वेन व्यापृतत्वात्संहतत्वेन हेतुना परस्मिश्चेतने सामान्येनावगते प्रष्टुर्विशेषप्रश्नो युक्त इत्याह—युक्तैव त्विति । स्वाम्यर्थानि संघाताभिमान्यर्थानीत्यर्थः । आशङ्कानु-रूप इति । मनसि क्रियमाणाशङ्कानुरूपो वाचिकः प्रश्न इत्यर्थः । अत्र सम्प्रतिष्ठानविशिष्ट आत्मा न पृष्टः किंतु तदुपलक्षितः केवल आत्मा पृष्ट इति वाक्यतात्पर्यमाह—अत्र त्विति । भवन्तीत्यनन्तरं पृष्टमिति शेषः ॥१॥

समाधानः—प्रश्नकर्ता की पूर्वोक्त आशंका उचित ही है, क्योंकि भौतिक संघातरूप इन्द्रियाँ जाग्रत अवस्था में अपने स्वामी जीवात्मा के लिये परतन्त्र होकर के ही प्रवृत्त होती हैं। अतः सुषुप्ति में भी उन संघातरूप इन्द्रियों का किसी में भी मिलना परतन्त्र ही होगा। अतः प्रश्नकर्ता का यह प्रश्न आशका के अनुरूप ही है। इसलिए यहाँ पर प्रश्नकर्ता का प्रश्न है कि वह कौन है, जिसमें ये सब प्रतिष्ठित होती हैं। सुषुप्ति और प्रलय काल में जिसमें यह कार्यकरणसंघात लीन होता है, उसके सम्बन्ध में वैशिष्टच जानने के लिये प्रश्न करना उचित ही है ॥१॥

आत्मा ही इन्द्रियों का लय स्थान है

प्रश्न कर्ता उस शिष्य से आचार्य ने कहा—हे गार्ग्य ! तूने जिसे पूछा है, उसे सुन। जैसे

---

१. स्वाम्यर्थानीत्यादि—गृहतन्त्राणां गृहार्थमेव च दिवाव्याप्रियमाणानां लौकिकानां नक्तं गृहसंगतिर्हि दृष्टेति भावः। २. अत्र त्विति—यस्मिश्चेति चकारोऽत्र यत्र त्वित्येव पाठं प्रत्याययति निमित्तसप्तम्या यन्निमित्तं कार्यकरणानां संहतत्वं संधीभवनमित्यर्थः। ३. यच्छब्दद्वयोक्तपरामर्शी तद्विशेषमिति तच्छब्दः। ४. बुभुत्सोः प्रश्नोऽयमित्यन्वयः। ५. प्रश्नमभिनयति—कस्मिन्नित्यादिना इत्ययं प्रश्न इति सम्बन्धः। प्रश्नाभिप्रायं व्यनक्ति—स को नु स्यादितीति। इत्यर्थकोऽयं प्रश्न इत्यर्थः। अत्रत्यटीका तु भ्रान्तिमूलेति प्रतीमः।

वं तत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवति। तेन तर्ह्येष पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नाऽऽदत्ते नाऽऽनन्दयते न विसृजते नेयायते स्वपितीत्याचक्षते ।।२।।

निकलकर फिर सर्वत्र फैल जाती हैं, उसी प्रकार वे इन्द्रियाँ और विषय मनरूप परम देव में अभिन्न हो जाती हैं। अतः उस निद्रा काल में वह (देवदत्तादि रूप पुरुष) न सुनता है, न देखता है, न सूंघता है, न रस लेता है, न स्पर्श करता है, न बोलता है, न पकड़ता है, न आनन्द भोगता है, न त्यागता है और न चेष्टा करता है। इसीलिये लौकिक पुरुष उसे 'सोता है' ऐसा कहते है ।।२।।

एकीभवन्ति विवेकानर्हत्वमविशेषतां गच्छन्ति, मरीचयस्तस्यैवार्कस्य ताः पुनः पुनरुदयत उद्गच्छतः प्रचरन्ति विकीर्यन्ते। यथाऽयं दृष्टान्तः। एवं ह वै तत्सर्वं विषयेन्द्रियादि-जातं परे प्रकृष्टे देवे द्योतनवति मनसि चक्षुरादि देवानां मनस्तन्त्रत्वात्परो देवो मनस्त-स्मिन्स्वप्नकाल एकीभवति, मण्डले मरीचिवदविशेषतां गच्छति। जिजागरिषोश्च रश्मिवन्मण्डलान्मनस एव प्रचरति स्वव्यापाराय प्रतिष्ठते। यस्मात्स्वप्नकाले श्रोत्रादीनि शब्दाद्युपलब्धिकरणानि मनस्येकीभूतानीव करणव्यापारादुपरतानि तेन तस्मात्तर्हि

यत्त्वया पृष्टं तच्छृण्वित्यन्वयः। तस्यैवार्कस्य [1]ता मरीचय इत्यन्वयः। विकीर्यन्त इति। दशदिक्षु क्षिप्यन्त इत्यर्थः। स्वप्नेऽपि चक्षुरादिव्यापारोपलब्धेरेकीभावोऽसिद्ध इत्याशङ्क्य वासनामये-न्द्रियव्यापारोपलब्धावपि बाह्यशब्दादिश्रवणादिव्यापाराभावेन तं साधयितुं तेनेति वाक्यं व्याख्याति—यस्मादिति—श्रोत्रादीनामेकीभावो नाम स्वस्वव्यापारं विहाय मनस्तन्त्रतयाऽवस्थानमात्रं न तु मुख्य-

---

सूर्यास्त के समय सूर्य की किरणें तेजो-मण्डलरूप उस सूर्य में ही एकत्रित हो जाती हैं, उस समय उन रश्मियों का विवेक करना असम्भव हो जाता है किन्तु उसी सूर्य के उदय होते समय पुनः उससे निकल कर सूर्य किरणें सभी ओर फैल जाती हैं, जैसा यह दृष्टान्त है ठीक उसी प्रकार वह सब विषय और सम्पूर्ण इन्द्रियों का समुदाय स्वप्नकाल में (सुषुप्तिकाल में) अत्यन्त द्योतन स्वभाव वाले मन में चक्षुरादि इन्द्रियाँ लीन हो जाती हैं। इन्द्रियरूप देव मन के अधीन हो जाते हैं। इसीलिये पराधीन इन्द्रियदेव की अपेक्षा मन को परम देव कहा है। उसी मन में इन्द्रियाँ एकत्रित हो जाती हैं अर्थात् जैसे सूर्य मण्डल में सूर्यास्त के समय सूर्य की किरणें उससे अभिन्नता को प्राप्त हो जाती हैं और पुनः सूर्य उदय के समय सूर्यमण्डल से निकलकर सभी ओर फैल जाती हैं, वैसे ही जागने की इच्छा वाले पुरुष के मन से निकलकर इन्द्रियों की वृत्तियाँ अपने व्यापार में प्रवृत्त हो जाती हैं क्योंकि सुषुप्ति विषयों के समय शब्दादि विषयों की उपलब्धि के करण श्रोत्रादि इन्द्रियाँ मन में एकीभाव प्राप्त हुए

---

१. ता मरीचय इति—मरीचिः स्त्रीपुंसयोरित्यमरः।

प्राणाग्नय एवैतस्मिन्पुरे जाग्रति। गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानो व्यानोऽन्वाहार्यपचनो यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादाहवनीयः प्राणः ॥३॥

इस (नौ द्वार वाले शरीर रूप) पुर में प्राणाग्नि ही जागते हैं। निश्चय यह अपान ही गार्हपत्य अग्नि है। व्यान (हृदय कमल के दक्षिण छिद्र द्वारा निकलने के कारण दक्षिण दिशा से सम्बन्ध के कारण) दक्षिणाग्नि है और जो गार्हपत्य से ले जाया जाता है वह प्राण ही प्रणयन के कारण आहवनीय नामक अग्नि है ॥३॥

तस्मिन्[१]स्वापकाल एष देवदत्तादिलक्षणः पुरुषो न शृणोति न पश्यति न जिघ्रति न रसयते न स्पृशते नाभिवदते नाऽऽदत्ते नाऽऽनन्दयते न विसृजते [२]नेयायते स्वपितीत्याचक्षते लौकिकाः ॥२॥

सुप्तवत्सु श्रोत्रादिषु करणेष्वेतस्मिन्पुरे नवद्वारे देहे प्राणाग्नयः प्राणादिपञ्चवायवोऽग्नय इवाग्नयो जाग्रति। अग्निसामान्यं ह्याह गार्हपत्यो ह वा एषोऽपानः। कथमित्याह—यस्माद्[३]गार्हपत्यादग्नेरग्निहोत्रकाल इतरोऽग्निराहवनीयः प्रणीयते प्रणयनात्प्रणीयतेऽस्मादिति प्रणयनो गार्हपत्योऽग्निः। तथा [४]सुप्तस्यापानवृत्तेः

मेकत्वं तेषां मनःप्रकृतिकत्वाभावेनाप्रकृतौ तदनुपपत्तेरित्यभिप्रेत्येवकारः प्रयुक्तः। नेयायत इति। इणो गत्यर्थस्य [५]यङन्तस्य रूपमेतन्न गच्छतीत्यर्थः ॥२॥

कानि स्वपन्तीत्यस्य सविषयाणि बाह्यकरणानि स्वपन्त्युपरमन्तेऽतस्तेषामेव जागरणं धर्म इत्युत्तरमुक्त्वा कानि जाग्रतीत्यस्योत्तरमाह—सुप्तवत्स्विति। प्राणानामग्नित्वं गौणमित्याह—अग्नय इवेति। अपानस्य गार्हपत्यत्वे यद्गार्हपत्यात्प्रणीयते प्रणयनादितीदं वाक्यं व्यवहितमपि हेतुत्वेन योजयति—यस्मादिति। प्रणयनादिति पदं गार्हपत्यविशेषणमित्याह—प्रणयनो गार्हपत्य इति। तत्संसृष्टमाहवनीयः प्राण इति वाक्यं सादृश्याभिधानपूर्वं व्याचष्टे—तथेति। गार्हपत्यत्वेनोक्तेऽपानेऽ-

---

की भाँति अपने व्यापार से उपरत हो जाती हैं। इसलिये उस निद्रा के समय वह देवदत्तादिरूप पुरुष न सुनता है, न देखता है, न सूँघता है, न चखता है, न छूता है, न बोलता है, न ग्रहण करता है, न त्यागता है, न आनन्द को भोगता है और न चेष्टा करता है। उस समय लौकिक पुरुष उसके सम्बन्ध में यही कहते हैं कि यह सोता है ॥२॥

सुषुप्ति काल में जागने वाले प्राणादि गार्हपत्यादि अग्नि तुल्य हैं

नौ द्वार वाले देहरूप पुर में श्रोत्रादि इन्द्रियों के सो जाने पर प्राणाग्निस्थानीय प्राणादि पाँच वायु ही जागते हैं। वे प्राणादि पाँच वायु अग्नि के समान हैं। अतः अब अग्नि के साथ उनको

---

१. सुप्तिस्वप्नावेकीकृत्याह—स्वापकाल इति। २. न ईयायत इति च्छेदः। अकृत्सार्वधातुकयोरिति दीर्घः। ३. गार्हपत्यादिति—गृहपतिना संयुक्तं ञ्यः। ४. सुप्तो स्पष्टत्वादाह—सुप्तस्येति। ५. यङन्तस्येति—हलादेरिति स्मृतेश्छान्दसमेव यङादीत्यवधेयम्।

यदुच्छ्वासनिश्वासावेतावाहुती समं नयतीति स समानः। मनो ह वाव यजमान इष्टफलमेवोदानः स एनं यजमानमहरहर्ब्रह्म गमयति ॥४॥

क्योंकि उच्छ्वास और निश्वास—ये अग्निहोत्र की आहुतियों के समान है (देह रक्षा के लिये) इन्हें जो समभाव से सर्वदा चलाता है, वह समान ऋत्विक् है। निश्चय ही मन यजमान है और उदान वायु ही इष्टफल है। वह उदान वायु इस मन नामक यजमान को (स्वप्न व्यापार से भी गिरा कर) नित्य प्रति सुपुप्ति में ब्रह्म के पास ले जाता है ॥४॥

प्रणीत इव प्राणो मुखनासिकाभ्यां संचरत्यत आहवनीयस्थानीयः प्राणः। व्यानस्तु हृदयाद्दक्षिणसुषिरद्वारेण निर्गमाद्दक्षिणदिक्संबन्धादन्वाहार्यपचनो दक्षिणाग्निः ॥३॥

अत्र च होताऽग्निहोत्रस्य यद्यस्मादुच्छ्वासनिश्वासावग्निहोत्राहुतो इव नित्यं

न्तर्गच्छति सति बहिर्गच्छन्प्राणस्ततो निर्गच्छन्निव लक्ष्यत इति प्राण आहवनीय इत्यर्थः। [2]परित्यक्तं व्यानोऽन्वाहार्यपचन इति वाक्यनिदानों व्याचष्टे—व्यानस्त्विति। छान्दोग्ये गायत्रीविद्यायां "तस्य ह वा एतस्य हृदयस्य पञ्च देवसुषयः" (छा० ३-१३-१) इत्युपक्रम्य "अथ योऽस्य दक्षिणः सुषिः स व्यानस्तच्छ्रोत्रम्" (छा० ३-१३-२) इत्यनेन व्यानस्य दक्षिणसुषितो निर्गमनमुक्तमित्यस्यान्वाहार्यपचनसादृश्यं दक्षिणदिक्संबन्धित्वं व्यानस्येति व्यानोऽन्वाहार्यपचन इत्यर्थः ॥३॥

अत्र चेति। अग्निहोत्रस्य होता होमस्य कर्ता, ऋत्विगुच्यत उत्तरवाक्येने(णे)ति शेषः। अत्रोच्छ्वासनिश्वासयोराहुतित्वस्य पूर्वमसिद्धत्वेन सिद्धवन्निर्देशायोगात्स समान इति तच्छब्दानन्वयाच्च वाक्यत्रयं कृत्वाऽन्वयत्रयेण योजयति—यद्यस्मादिति। उच्छ्वासनिश्वासावित्यनन्तरमाहुती इति

समानता बतलाते हैं। निःसन्देह यह अपान ही गार्हपत्य अग्नि है। कैसे? इसे कहते हैं जैसे गार्हपत्य अग्नि से दूसरा आहवनीय अग्नि सम्पन्न किया जाता है। अतः प्रणयन किये जाने के कारण "प्रणीयते अस्मात्" इस व्युत्पत्ति के अनुसार वह गार्हपत्य अग्नि प्रणयन है। वैसे हो सोये हुए पुरुष की अपान वृत्ति से प्राण का भी प्रणयन हुआ-सा ही मुख और नाक के द्वारा संचार होता है। अतः वह प्राण आहवनीय अग्नि के समान है किन्तु हृदय के दाहिनी ओर स्थित छिद्र द्वारा निकलने के कारण व्यान वायु दक्षिण दिशा से सम्बन्धित अन्वाहार्य-पचन रूप दक्षिणाग्नि के स्थान में है (अन्वाहार्य-पचन ओदन विशेष का नाम है, जो दक्षिणाग्नि में पकाया जाता है। इसीलिये उसका नाम अन्वाहार्य-पचनाग्नि पड़ गया) ॥३॥

प्राणाग्नि के ऋत्विक्

अब अग्रिम मन्त्र से अग्निहोत्र के होता का वर्णन किया जाता है क्योंकि उच्छ्वास और निःश्वास अग्निहोत्र की आहुतियों के समान हैं। अतः (श्वास-निश्वास की भाँति अग्निहोत्रादि की

---

१. उच्छ्वासनिश्वासाविति—क्रियात्मकावित्यर्थः। २. परित्यक्तमिति—परिशिष्टमिति यावत्।

द्वित्वसामान्यादेव त्वेतावाहुतो समं साम्येन शरीरस्थितिभावाय नयति यो वायुरग्नि-स्थानीयोऽपि होता चाऽऽहुत्योर्नेतृत्वात् । कोऽसौ ? स समानः । अतश्च विदुषः 'स्वापोऽप्य-ग्निहोत्रहवनमेव । तस्माद्विद्वान्नाकर्मीत्येवं मन्तव्य इत्यभिप्रायः । सर्वदा सर्वाणि भूतानि विचिन्वन्त्यपि स्वपत इति हि वाजसनेयके । अत्र हि जाग्रत्सु प्राणाग्निषूपसंहृत्य बाह्य-करणानि विषयांश्चाग्निहोत्रफलमिव स्वर्गं ब्रह्म जिगमिषुर्मनो ह वाव यजमानो जागर्ति

पदं भाष्येऽध्याहृत्यैतावुच्छ्वासनिश्वासावाहुती आहवनीयाधिकरणाग्निहोत्राहुतो(इ)व द्वित्वसाम्या-देवेत्येकोऽन्वयः । अनन्तरं भाष्ये तुशब्दश्चार्थे । श्रुतिगत इतिशब्दस्तस्मादित्यर्थे । यस्मादेतावाहुती यस्माच्चैतौ समं नयति शरीरस्थितिभावाय साम्येन नयति प्रवर्तयति यो वायुर्यथाऽग्निहोत्रे होमकर्ता-ऽऽहुतिद्वयमाहवनीयं प्रति समं नयति प्रापयति तद्वत्तस्मादाहुत्योर्नेतृत्वात्स वायुर्होतेति यच्छब्दहोतृशब्दा-ध्याहारेण द्वितीयोऽन्वयः । कोऽसौ वायुरिति तद्विशेषप्रश्ने 'स होता वायुः 'स समान इति तृतीयोऽन्वय इति विभागः । ननु प्राणाग्नय इत्यत्र सर्वेषां प्राणानामग्नित्वोक्तेः कथमिह समानस्य होतृत्वमुच्यत इत्याशङ्क्योक्तम्—अग्निस्थानीयोऽपीति । अग्नित्वेनोक्तोऽपीत्यर्थः । होता चेति । चकारोऽवधारणे, होतैवेत्यर्थः । आहुतिनेतृत्वाद्धोतृत्वे स्थितेऽग्नित्वोक्तिश्छात्रन्यायेनाग्न्यनग्निसमुदाये लाक्षणिकीत्यर्थः । अवस्थात्रयवर्तिनामुच्छ्वासनिश्वासप्राणानां 'चाग्निहोत्रावयवत्वसंपादनस्य नोपासनं प्रयोजनं निर्विशेषात्मप्रकरणत्वात्तद्विध्यदर्शनाच्च, किं त्विन्द्रियाण्युपरमन्ते प्राणा जाग्रतीत्येवं 'त्वंपदार्थशोधन-रूपस्य ज्ञानस्य स्तुतिरेवेत्याह—अतश्चेति । सर्वदेति । वाजसनेयके हि वाक्चितः प्राणश्चितश्चक्षुश्चित इत्यादिना सर्वप्राणव्यापारेषु प्रत्येकमग्निचितत्वदृष्टिं विधायैवंदृष्टिमतः सर्वाणि भूतान्यस्य स्वापकालेऽपि चयनं कुर्वन्तीति सा दृष्टिः स्तुता तद्वदिहापीत्यर्थः । अत्र हीति । अत्र मनो यजमानः कल्प्यत इति व्यवहितान्वयः । तत्कल्पनायां हेतुद्वयमाह—यजमानवदिति । हेतुद्वयं साधयति—जाग्रत्स्विति । अत्र स्वप्नकाले विषयान्करणानि चोपसंहृत्य मनो जागर्ति, प्राधान्येन स्वव्यापारं कुर्वद्वर्तते । अग्निहोत्रफलं स्वर्गं जिगमिषुर्यजमान इव सुषुप्तिकाले स्वर्गरूपब्रह्म जिगमिषु च मन

आहुतियों में) समानरूप से सदा द्वित्व रहने के कारण जो वायु शरीर की स्थिति के लिये इन दोनों उच्छ्वास और निःश्वासरूप आहुतियों को समभाव से सदा चलाता रहता है, वह वायु अग्नि-स्थानीय होता हुआ भी आहुतियों का नेता होने से होता (ऋत्विक्) ही है, वह कौन ? वह समान वायु है। अतः विद्वान् की निद्रा भी अग्निहोत्र का हवन ही है। अतएव ऐसे विद्वान् को अकर्मी नहीं मानना चाहिये, यही इसका अभिप्राय है। इसीलिये बृहदारण्यकोपनिषत् में कहा है कि विद्वान् के सो जाने पर भी सभी भूत सर्वदा यागानुष्ठान करते ही रहते हैं।

इस अवस्था में पंच प्राणरूप प्रदीप्त अग्नि में बाह्य इन्द्रियों और विषयों को हवनकर मनरूप यजमान निःसन्देह अग्निहोत्र के फल स्वर्ग की भाँति ब्रह्म के प्रति जानने की इच्छा से जागता रहता है जैसे यजमान यज्ञ का स्वामी सब के सो जाने पर भी सदा जागता रहता है; वैसे ही

१. स्वापोऽपीति—किमुत जागर्येत्यपेरर्थः । २. स होतेति—अत्र यो होतेति युक्तः पाठः । ३. यद्वाऽत्र स समान इति सशब्दोऽनुवादेयः । ४. चाग्नीति—चकारोऽयं पूर्वपङ्क्त्यर्थसमुच्चयार्थः । ५. त्वंपदार्थ-शोधनेति—नात्मनि सुप्तिजागरणं किन्त्विन्द्रियादिष्वेवेत्येवं त्वंपदार्थशोधनेत्यर्थः ।

यजमानवत्कार्यकरणेषु प्राधान्येन संव्यवहारात्स्वर्गमिव ब्रह्म प्रति प्रस्थितत्वाद्यजमानो मनः कल्प्यते। इष्टफलं यागफलमेवोदानो वायुः। उदाननिमित्तत्वादिष्टफलप्राप्तेः। कथम्? स उदानो मनआख्यं यजमानं 'स्वप्नवृत्तिरूपादपि प्रच्याव्याहरहः सुषुप्तिकाले स्वर्गमिव ब्रह्माक्षरं गमयति। अतो यागफलस्थानीय उदानः ॥४॥

एवं विदुषः श्रोत्राद्युपरमकालादारभ्य यावत्सुप्तोत्थितो भवति तावत्सर्वयाग-

---

इत्यन्वयः। भाष्ये यजमान इत्यनन्तरमिव शब्दो द्रष्टव्यः। हवावशब्देन तत्प्रसिद्धमित्युक्तम्। इष्टेति। उदाननिमित्तकमरणानन्तरं यागादिफलप्राप्तेस्तस्य तन्निमित्तत्वात्कारणे कार्योपचारादुदान इष्टफलत्वेन कल्प्यत इत्यर्थः। न केवलं मरणद्वारा यागफलप्रापकत्वमुदानस्य किं त्वेतस्यैवाऽऽनन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्तीति श्रुतेः। सर्वयागफलानामपि ब्रह्मात्मकत्वात्तद्ब्रह्मप्रापकत्वादपि अहरहरिष्टफलप्रापकत्वमुदानस्येति प्रश्नपूर्वकमाह—कथमिति। स्वर्गमिवेति। स्वर्गमेवेत्यर्थः। सर्वयागफलात्मकस्वरूपमेव ब्रह्माक्षरं गमयतीत्यर्थः। 'यद्यप्यहरहर्ब्रह्मप्राप्तिर्न यागसाध्या यागरहितानामपि तत्प्राप्तेस्'तथाऽपि ब्रह्मण एव सर्वयागफलत्वेन तत्प्रापकस्योदानस्येष्टफलप्रापकत्वमस्तीति भावः। न चोदानस्य कथं तत्प्रापकत्वमिति शङ्क्यम्। तस्य सुषुम्नानाडीचारित्वेन स मनस्तन्नाडीं प्रवेशयंस्तद्गतं ब्रह्म प्रापयतीत्युपपत्तेः ॥४॥

ननु गार्हपत्यो ह वा एषोऽपान इत्यारभ्य मनो ह वाव यजमान इत्यन्तेन ग्रन्थेन विद्वानकर्मी न भवतीति स्तूयत इत्युक्तमस्त्वेवं 'तत्राग्निहोत्रादिकर्मप्रतीतेरुदानस्य यागफलस्थानीयत्वोक्तेस्तु न 'तत्फलत्वं 'तत्र कर्माप्रतीतेरत आह—एवं विदुष इति। विद्वत्तेति। श्रोत्रादीनि स्वप्न उपरमन्ते प्राणा एव जाग्रतीत्येवंरूपा विद्येत्यर्थः। अस्याश्च विद्याया जागरणं श्रोत्रादिबाह्येन्द्रियधर्मः शरीररक्षणं

भूत और इन्द्रियों में प्रधानता से व्यवहार करने वाला मन है और स्वर्ग के समान ब्रह्म के प्रति प्रस्थान करने वाला होने के कारण मन की यजमान रूप से कल्पना की गयी है। उदान वायु ही याग का फल है क्योंकि इष्टफल प्राप्ति में उदान वायु को निमित्त माना गया है। कैसे? वह उदान वायु मन नामक यजमान को स्वप्न व्यापार से भी पृथक् कर प्रतिदिन सुषुप्ति काल में स्वर्ग के तुल्य अक्षर ब्रह्म को प्राप्त करा देता है। अतः याग का फल-स्थानीय उदान वायु है (ऐसा कहना उचित है) ॥४॥

स्वप्नद्रष्टा की महिमा

इस प्रकार विद्वान् को श्रोत्रादि के उपरत होने से लेकर जब तक वह सोकर उठता है, तब तक सम्पूर्ण यज्ञों के फल का अनुभव करता है। अज्ञानियों की भाँति ज्ञानी की निद्रा अनर्थ का कारण नहीं

---

१. स्वप्नवृत्तिरूपादिति—स्वप्नवृत्त्यात्मकं यन्मनसो रूपं तस्मादित्यर्थः। २. उदानस्य ब्रह्मात्मकेष्टफलप्रापकत्वे कथमनिष्टवतां सुप्तिरित्याशङ्क्याऽऽह—यद्यपीत्यादि। ३. कथं तह्युदानस्येष्टफलप्रापकत्वं तत्राह—तथापीत्यादि। ४. तत्र यथोक्ते ग्रन्थे। ५. तत्फलत्वमिति—विद्वानकर्मी न भवतीति स्तुतिफलकत्वमित्यर्थः। ६. तस्यायथोक्तफलकत्वाभावे हेतुमाह—तत्रेत्यादिना। इष्टफलमेवोदान इति वाक्ये कर्माप्रतीतिस्तेन विद्वानकर्मी न भवतीति स्तुतेरलभ्यत्वादीति भावः।

अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति । यद्दृष्टं दृष्टमनुपश्यति श्रुतं श्रुतमेवार्थमनुशृणोति देश-

इस (श्रोत्रादि इन्द्रियों के उपरतरूप स्वप्न) अवस्था में यह देव अपनी महिमा का अनुभव करता है। इसने जाग्रद् अवस्था में जिसे देखा है, उसी दृष्ट वस्तु को स्वप्न में पुनः देखता है। प्रत्येक

फलानुभव एव नाविदुषामिवा[1]नर्थायेति विद्वत्ता स्तूयते । न हि विदुष एव श्रोत्रादीनि [2]स्वपन्ते प्राणाग्नयो वा जाग्रति जाग्रत्स्वप्नयोर्मनः स्वातन्त्र्यमनुभवदहरहः सुषुप्तं वा प्रतिपद्यते । समानं हि सर्वप्राणिनां पर्यायेण जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिगमनमतो विद्वत्तास्तुतिरेवेयमुपपद्यते । यत्पृष्टं कतर एष देवः स्वप्नान्पश्यतीति तदाह—

अत्रोपरतेषु श्रोत्रादिषु देहरक्षायै जाग्रत्सु प्राणादिवायुषु प्राक्सुषुप्तिप्रतिपत्तेः । [3]एतस्मिन्नन्तराल एष देवोऽर्करश्मिवत्[4]स्वात्मनि संहृतश्रोत्रादिकरणः स्वप्ने महिमानं [5]विभूतिं विषयविषयिलक्षणमनेकात्मभाव[6]गमनमनुभवति प्रतिपद्यते ।

प्राणधर्मो नाऽऽत्मधर्म इत्येवं त्वंपदार्थविवेकरूपत्वात्स्तोतव्यत्वोपपत्तिः । अत एव प्राणजागरणस्याविद्व[द्विद्व]त्साधारणत्वात्कथं विद्वत्तास्तुतिरित्यपि शङ्का निरस्ता तस्यैवंभूतविवेकाभावादिति । ननु विद्याप्रकरणत्वादस्य विदुषः श्रोत्राद्युपरमादिकं सर्वं भवतीति विधीयतां किं स्तुत्येत्याशङ्क्य विद्वदविद्वत्साधारण्येन स्वयमेव भवतो न विधेयत्वमित्याह—न हीति । विद्वत्तास्तुतिरेवेति । श्रोत्रादिकं परे देवे मनस्येकीभवति प्राणाग्नयो जाग्रतीत्यत्र त्वंपदार्थविवेकरूपं ज्ञानं विवक्षितं तज्ज्ञानं गार्हपत्यो ह वा एषोऽपान इत्यादिना स्तूयत उक्तप्रकारेणेत्यर्थः । तृतीयप्रश्नोत्तरत्वेनात्रैष इत्यादि सर्वः पश्यतीत्यन्तं व्याचष्टे—यदिति । अत्रेति श्रौतं पदं गृहीत्वा व्याचष्टे—उपरतेष्वित्यादिनाऽन्तराल इत्यन्तेन । अनेकेति । विषयिविषयाद्यनेकभावगमनमित्यर्थः । इदं च महत्त्वव्याख्यानम् ।

है। ऐसा कहकर विद्वत्ता की स्तुति की गयी है। क्योंकि केवल विद्वानों की ही श्रोत्रादि इन्द्रियाँ सोती हैं और प्राणाग्नियाँ जागती हैं तथा उसी का मन जाग्रत् और सुषुप्ति में स्वतन्त्रता का अनुभव करता हुआ प्रतिदिन सुषुप्ति में लीन होता है, ऐसी बात नहीं किन्तु सभी प्राणियों के लिये जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति में गमन समान ही तो है। अतः उपासना के प्रसंग में (सर्व सामान्य सिद्ध भी मन की स्वतन्त्रता) विद्वता की स्तुति के लिये ही है, ऐसा मानना उचित है। हे शिष्य ! पहले तूने जो यह पूछा था कि कौन देव स्वप्न को देखता है, यह बात अब बतलाते हैं। श्रोत्रादियों की इस उपरतिरूपा अवस्था में देह की रक्षा के लिये प्राणादि वायु के जगे रहने पर सुषुप्ति प्राप्ति से पूर्व (जाग्रत् एवं सुषुप्ति के) मध्यावस्था में यही देव अपनी विभूति का अनुभव करता है। जिससे सूर्य की किरणों के समान श्रोत्रादि इन्द्रियों को अपने में लीन कर लिया है। अतः विषय-विषयीरूप अनेकात्मत्व होकर प्राप्त हो जाता है।

---

१. अनर्थायेति—सुषुप्तिरिति शेषः। २. स्वपन्त इत्यत्र परस्मैपदपाठो न्याय्यः। ३. एतस्मिन्नन्तराले जागरासुप्त्योर्मध्यकाल इत्यर्थः। ४. एष देवो मनोऽभिधान इत्याशयेन विशिनष्टि—स्वात्मनि संहृतश्रोत्रादिकरण इति। एवं ह वैतत्सर्वं परे देवे मनस्येकीभवतीति हि पठितमधस्तात्। ५. विभूतिं विविधाकारेण भवनं तदेतदाचष्टे—विषयेत्यादिना। ६. गमनं प्रतिपद्यते करोति प्राप्नोतीति द्वयोरर्थः।

दिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनः प्रत्यनुभवति दृष्टं चाऽदृष्टं च श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चाननुभूतं च सच्चासच्च सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति ॥५॥

सुनी हुई बातों को फिर सुनता है और दिशा तथा विदिशा में अनुभूत वस्तु को ही पुनः पुनः अनुभव करता है। (विशेष क्या कहें) इस जन्म में देखे और जन्मान्तर में सुने वैसे ही अनुभूत और अननुभूत, पृथिव्यादि सत् और मृगजलादि असत् सभी प्रकार की वस्तु को देखता है और वह सर्वरूप से मनोदेव स्वप्न को देखता है ॥५॥

ननु महिमानुभवने करणं मनोऽनुभवितुस्तत्कथं स्वातन्त्र्येणानुभवतीत्युच्यते। स्वतन्त्रो हि क्षेत्रज्ञः। नैष दोषः। क्षेत्रज्ञस्य स्वातन्त्र्यस्य मनउपाधिकृतत्वान्न हि क्षेत्रज्ञः परमार्थतः स्वतः स्वपिति जागर्ति वा। मनउपाधिकृतमेव तस्य जागरणं स्वप्नश्चेत्युक्तं वाजसनेयके—"सधीः स्वप्नो भूत्वा ध्यायतीव लेलायतीव" इत्यादि। तस्मान्मनसो विभूत्यनुभवे स्वातन्त्र्यवचनं न्याय्यमेव। मनउपाधिसहितत्वे स्वप्नकाले क्षेत्रज्ञस्य स्वयं-

---

स्वप्नद्रष्टुर्जीवस्य स्वातन्त्र्ये वक्तव्ये देवशब्दितमनसस्तदुक्तिः स्वप्नो मनोधर्मो नाऽऽत्मधर्म आत्मनि तु तदारोपमात्रं लोकस्येति ख्यापनार्थेति शङ्कापरिहाराभ्यामाह—नन्विति। मनउपाधिकृतमिति। बाह्येन्द्रिययुक्तमनउपाधिकृतं जागरणं केवलमनउपाधिकृतः स्वप्न इत्यर्थः। स्वप्नस्य धीशब्दवाच्यमनःपरिणामत्वात्। स्वप्नो भूत्वेतिश्रुतौ [2]सामानाधिकरण्यनिर्देश इति द्रष्टव्यम्। नन्वि[3]यं श्रुतिर्विभूत्यनुभवने मनःस्वातन्त्र्यं वक्तुं न शक्नोति [4]श्रुत्यन्तरविरोधापत्तेः। अतोऽत्र देवशब्देन क्षेत्रज्ञ एवोच्यते। तस्यैव स्वतः स्वातन्त्र्यमिति शङ्कते—मन इति। स्वयंज्योतिष्ट्वमिति। [5]स्वयंज्योतिष्ट्वबोधकश्रुतिरित्यर्थः। [6]अन्यथा द्वितीयसत्त्वेऽपि दीपादीनामिव वास्तवस्य तस्य बाधाभावादित्यत्र किं मनसः

शंका—विभूति के अनुभव करने में अनुभव कर्ता पुरुष का मन करण-स्थानीय है। फिर भला आपने यह कैसे कह दिया कि वह मन स्वतन्त्रता से स्वप्न में अपनी महिमा का अनुभव करता है क्योंकि स्वतन्त्र तो केवल क्षेत्रज्ञ है।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है क्योंकि क्षेत्रज्ञ की स्वतन्त्रता मनरूप उपाधि के कारण ही तो है। सत्य पूछो तो क्षेत्रज्ञ स्वयं न सोता है और न जागता है, उसका जागना और सोना तो मनरूप उपाधि के कारण ही है; ऐसा बृहदारण्यक श्रुति में कहा है "यह बुद्धि के साथ तादात्म्य को प्राप्त कर स्वप्नरूप हो जाता है, उस समय मानो ध्यान करता तथा चेष्टा करता-सा भासता है"

---

१. सधीरिति—सहीति काण्वपाठोपलम्भः। २. सामानाधिकरण्यनिर्देश इति—दृश्यते हि सपरिणामपरिणामिनोः क्षीरं दधि भूत्वाऽवतिष्ठत इत्येवमादिरिति भावः। ३. इयं श्रुतिः—अत्रैष देव इत्येषा प्रकृता श्रुतिरित्यर्थः। ४. श्रुत्यन्तरेति—अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिर्भवति—इति श्रुत्यन्तरेत्यर्थः। ५. स्वयंज्योतिष्ट्व हि वास्तवमात्मनोरूपं कथं बाधमर्हतीत्याशङ्कमानं भाष्यार्थं पाठयति—स्वयंज्योतिष्ट्वबोधकश्रुतिरित्यर्थः। ६. उक्तमर्थममन्यमानमनिष्टेन पिनष्टि—अन्यथेत्यादि। यथा दीपादीनां वास्तवं स्वयंज्योतिष्ट्वं ज्योतिरन्तरसत्त्वेऽपि न बाध्यते तद्वद्द्वितीयस्य मनसः सत्त्वेऽपि न तद् बाध्येतैव तथा च बाध्येतेत्येव बाध्येतेत्यनिष्टमापतेदिति भावः।

ज्योतिष्ट्वं बाध्येतेति केचित् । तन्न । श्रुत्यर्थापरिज्ञानकृता भ्रान्तिस्तेषाम् । यस्मात्स्वयंज्योतिष्ट्वादिव्यवहारोऽप्या[1]मोक्षान्तः सर्वो[2]ऽविद्याविषय एव मनआद्युपाधिजनितः । "यत्र वा अन्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येत्" (बृ.४-३-३१) "[3]मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति" "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" (बृ.२-४-१४) इत्यादिश्रुतिभ्यः । अतो [4]मन्दब्रह्मविदामेवेयमाशङ्का न त्वे[5]कात्मविदाम् । नन्वेवं सत्यत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिरिति विशेषणमनर्थकं भवत्यत्रोच्यते ।

सत्त्वे ज्योतिरन्तरस्य मनसो विद्यमानत्वादात्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वबोधनं न शक्यमिति श्रुतेः कार्यस्य बोधनस्य बाधोऽभिप्रेत उत तद्बोधनरूपकार्यसिद्ध्यर्थं मनसोऽभावोऽपि विवक्षितः श्रुतौ । ततश्च [6]तत्सत्त्वे [7]श्रुत्यर्थबाध इति वा । नाऽऽद्यः । मनसि सत्यप्येवं तर्हीति वक्ष्यमाणरीत्या मनसो दृश्यत्वेन ज्योतिष्ट्वायोगेनाऽऽत्मन एव स्वयंज्योतिष्ट्वस्य बोधयितुं शक्यत्वादित्याह—तन्नेति । न द्वितीयः, तदानीं मनसोऽभावस्तु श्रुत्यर्थ एव न भवतीत्याह—श्रुत्यर्थेति । आत्मनि ज्योतिष्ट्वबोधनात्मकव्यवहारस्य [8]प्रकाश्यादिसापेक्षत्वात्तस्मिन्सत्येव तद्बोधसाधने मनआदौ च सत्येव तद्बोधयितुं शक्यते नान्यथेति मनआद्यभावो न श्रुतौ विवक्षितः, तथा सति तद्बोधनाशक्तेरित्याह—यस्मादिति ।

तत्र मानमाह—यत्र वेति । द्वितीयाभावे व्यवहारो नास्तीत्यत्रापि मानमाह—मात्रेति । दृश्यं मात्राशब्दार्थः । असंसर्ग इति च्छेदः । दृश्यासंसर्गे सुषुप्तौ विशेषविज्ञानाभावोक्त्या द्वितीयाभावे व्यवहारो नास्तीत्यर्थः । अतो न द्वितीयः कल्पः संभवतीत्याह—अत इति । ननु यदि स्वयंज्योतिष्ट्वबोधनार्थं मनआद्यभावो नापेक्षितो जागरितेऽपि तर्हि तद्बोधनसंभवादत्रेति स्वप्नवाचिविशेषणमनर्थकमिति शङ्कते—नन्विति । किं विशेषणबलान्मनसोऽभावः सिषाधयिषित उत विशेषणस्य [9]गतिमात्रं पृच्छ्यते । नाऽऽद्यः । मनसोऽभावाङ्गीकारेऽप्यन्तर्हृदयाकाशस्य तत्कृतपरिच्छेदस्य च श्रुतिसिद्धत्वेन त्वन्मतेऽपि तत्र स्वयंज्योतिष्ट्वबोधनासंभवाद्विशेषणानर्थक्यं तुल्यमित्याह—अत्रोच्यत इति । परि-

इत्यादि । अतः विभूति के अनुभव में मन को स्वतन्त्र कहना उचित ही है ।

कुछ लोग कहते हैं कि स्वप्न के समय मनरूप उपाधि के सहित क्षेत्रज्ञ को मानने पर क्षेत्रज्ञ की स्वयंप्रकाशता बाधित हो जायगी; ऐसा कहना ठीक नहीं । श्रुत्यर्थ को न जानने के कारण ही उन्हें ऐसा भ्रम होता है क्योंकि मन आदि उपाधि से प्राप्त स्वप्रकाशत्वादि सभी व्यवहार भी मोक्ष पर्यन्त अविद्या के कारण ही है । ऐसा हो "जहाँ कोई अन्य-सा हो वहाँ पर ही दूसरा दूसरे को देखता है" "इस आत्मा का विषय के साथ संसर्ग होता नहीं" "जहाँ इस तत्त्वज्ञानी के लिये सब कुछ आत्मा ही हो गया, वहाँ किससे किसको देखे" इत्यादि श्रुतियों से सिद्ध होता है । अतः यह शंका मन्द ब्रह्मज्ञानियों की है; अद्वैत आत्मतत्त्व के जानने वालों की नहीं ।

१. आमोक्षान्त इति—मोक्षं मर्यादीकृत्येत्यामोक्षमामोक्षमन्तःस्वरूप यस्य स तथोक्तः । अन्तःस्वरूपे निकटे प्रान्ते निश्चयनाशयोरिति हैमः । २. अविद्येत्यादि—अविद्योपादानको मनआदिनिमित्तक इत्यर्थः । ३. मात्रेत्यादि वाक्यमन्वेष्यम । ४ मन्देति—मन्दा ब्रह्मविदो नाम ब्रह्मणि श्रद्धालवोऽपि न तद्गतिं संविदन्तीत्यर्थः । ५. एकेत्यादि—मुख्यात्मविदामित्यर्थः । एके मुख्यान्यकेवला इति कोशः । ६. तत्सत्त्वे स्वप्ने मनःसत्त्वोपगमे । ७. श्रुत्यर्थबाध इति—श्रुतिविवक्षितार्थस्य मनोऽभावस्याभाव इत्यर्थः । ८. प्रकाश्यादीत्यादिना प्रकाश्यसंसर्गो विवक्षितः । ९. गतीति फलेत्यर्थः ।

अत्यल्पमिदमुच्यते "य एषोऽन्तर्हृदय आकाशस्तस्मिञ्शेते" (बृ. २-१-१७) इत्यन्तर्हृदयपरिच्छेदे सुतरां स्वयंज्योतिष्ट्वं बाध्येत, सत्यमेवमयं दोषो यद्यपि स्यात्स्वप्ने केवलतया स्वयंज्योतिष्ट्वेनार्धं तावदपनीतं भारस्येति चेन्न। तत्रापि "पुरीतति नाडीषु शेते" (बृ. २-१-१९) इति श्रुतेः पुरीतति नाडीसम्बन्धात्तत्रापि पुरुषस्य स्वयंज्योतिष्ट्वेनार्धभारापनयाभिप्रायो मृषैव। कथं तर्हि "अत्रायं पुरुषः स्वयंज्योतिः" (बृ. ४-३-१४) इति।

च्छेदोऽधिकोन्नत इति तरपः प्रयोगः। स्वयंज्योतिष्ट्वमिति। तद्बोधनमित्यर्थः। यथाश्रुते वास्तवस्य तस्य बाधस्यानाशङ्क्यत्वादिति। यद्यपि स्वप्नेऽन्तर्हृदयाकाशसत्त्वात्सम्यक्स्वयंज्योतिष्ट्वं बोधयितुं न शक्यमिति दोषस्तुल्यस्तथाऽपि स्वप्ने मनसोऽभावेन तद्बोधनप्रतिबन्धकस्यार्धस्याभावाद्दूरविप्रकर्षेण स्वयंज्योतिष्ट्वं स्वप्ने बोधयितुं शक्यमिति तद्विशेषणमर्थवदिति शङ्कते—सत्यमिति। स्यादित्यनन्तरं तथाऽपीति शेषः। केवलतयेति। मनसोऽभावेनेत्यर्थः। भारस्येति। प्रतिबन्धकस्येत्यर्थः। शेषबोधनं तु सुषुप्ते भविष्यतीत्यभिप्रायः। एवं तर्हि सुषुप्ते सर्वस्याप्यभावमाश्रित्य सम्यग्बोधनं विवक्षणीयं न च तत्संभवति। तत्रापि बहुप्रतिबन्धकस्य विद्यमानत्वादित्याह—न तत्रापीति। सुषुप्तेऽपीत्यर्थः। तत्रापीति। स्वप्नेऽपीत्यर्थः। सुषुप्ते चेत्सर्वभारापनयः स्यात्तदा स्वप्नेऽर्धभारापनयाभिप्रायो वर्णयितुं शक्यते न च तदस्ति। अतोऽत्रेति विशेषणं तदाऽप्यनर्थकमित्यर्थः। तर्हि विशेषणस्य गतिर्वक्तव्येति द्वितीयं शङ्कते—कथं तर्हीति। अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवतीत्यथर्वशाखावाक्यार्थकथनावसरे काण्वश्रुतिगतविशेषणस्य गतिर्न वक्तव्या प्रकृतानुपयोगादिति सिद्धान्त्येकदेशो कश्चि-

शंकाः—ऐसा मानने पर "इस स्वप्नावस्था में यह पुरुष स्वयं प्रकाश है" इस वाक्य से कहा गया आत्मा का स्वयंज्योतिष्ट्व विशेषण अनर्थक हो जायेगा।

समाधानः—इस पर हमें यह कहना है कि आपका यह कथन अत्यन्त थोड़ा ही है "यह जो हृदय के मध्यवर्ती आकाश है, उसमें यह आत्मा सोता है" इस वाक्य द्वारा आत्मा में अन्तर्हृदय रूप परिच्छेद के सिद्ध हो जाने पर स्वप्रकाशत्व और भी बाधित हो जायेगा।

शंकाः—यद्यपि यह दोष तो सत्य ही है तथापि स्वप्न में मन का अभाव हो जाने के कारण आत्मा के स्वप्रकाशत्व में प्रतिबन्धक का आधा भाग तो टल ही जाता है (क्योंकि मन के रहने तक आत्मा का स्वप्रकाशत्व पूर्णरूपेण स्फुटित नहीं होता)।

समाधानः—ऐसी बात नहीं है, उस अवस्था में भी "पुरीतत् नाड़ी में सोता है" इस श्रुति से जीव का पुरीतत् नाड़ी के साथ संबन्ध बतलाया गया है। अतः यहाँ पर भी यह अभिप्राय मिथ्या ही होगा कि पुरुष के स्वयं ज्योतिष्ट्व में आधे प्रतिबन्धक निवृत्त हो जाते हैं।

शंकाः—तो फिर यह कैसे कहा गया कि "इस अवस्था में यह पुरुष स्वयंप्रकाश होकर रहता

१. अथ यदा सुषुप्तो भवति यदा न कस्यचन वेद हिता नाम नाड्यो द्वासप्ततिः सहस्राणि हृदयात्पुरीततमभिप्रतिष्ठन्ते ताभिः प्रत्यवसृप्य पुरीतति शेते इति वाक्यमाश्रित्याह—पुरीततीति। हृदयपुण्डरीकपरिवेष्टनं पुरीतदित्युच्यते। २. पुरीतति नाडीसम्बन्धादिति—पुरीतति शयानस्य पुरीतद्द्वारा नाडीभिः सम्बन्धादित्यर्थः। ३. अधिकोन्नत इति—अधिकविरोधीत्यर्थः। स हि स्वयंज्योतिष्ट्वसंकोचको ननु मनस्तथेति भावः। ४. अदूरेत्यादि—स्वल्पवैदूर्येणेत्यर्थः। अर्धमिति यावत्। ५. ज्योतिरन्तरापेक्षं कैवल्यमित्याशयेनाह—मनस इत्यादि।

अन्यशाखात्वादनपेक्षा सा श्रुतिरिति चेन्न । अर्थैकत्वस्येष्टत्वादेको ह्यात्मा सर्ववेदान्तानामर्थो विजिज्ञापयिषितो बुभुत्सितश्च । तस्माद्युक्ता स्वप्न आत्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वोपपत्तिर्वक्तुम्, श्रुतेर्यथार्थतत्त्वप्रकाशकत्वात् । एवं तर्हि शृणु श्रुत्यर्थं हित्वा सर्वमभिमानं न त्वभिमानेन वर्षशतेनापि श्रुत्यर्थो ज्ञातुं शक्यते सर्वैः पण्डितंमन्यैः ।

यथा हृदयाकाशे पुरीतति नाडीषु च स्वपतस्तत्संबन्धाभावात्ततो विविच्य

न्मन्दः शङ्कते—अन्येति । [1]सर्ववेदान्तप्रत्ययन्यायेनाथर्वश्रुत्यविरोधेनैकवाक्यतया श्रुत्यर्थस्य वर्णनीयत्वात्तदविरोधोऽपि वक्तव्य इति पूर्ववाद्याह—नार्थैकत्वस्येति । तर्हि काण्वश्रुतिर[2]र्थाभावात्त्यज्यतामत आह—श्रुतेर्यथार्थेति । स्वाध्यायोऽध्येतव्य इत्यध्ययनविधेरर्थावबोधफलकत्वात्तु[3]ल्यं च सांप्रदायिकमिति-न्यायाच्चाक्षरमात्रस्याप्यानर्थक्यायोगादित्यर्थः । एवमेकदेशिनि दूषिते सिद्धान्त्युत्तरमाह—एवं तर्हीति ।

[4]तर्ह्यादावेव [5]मुख्यश्रुत्यर्थ उच्यतां किं पूर्वोक्तरीत्या पक्षान्तराशङ्कातन्निराकरणाभ्यामित्याशङ्क्य पाण्डित्याभिमानवतो यथावदर्थबोधेऽनधिकारात्तस्य तदभिमानावतारचिकीर्षया तदीयनानापक्षा निराकृता इति वक्तुं सर्वमभिमानं [6]निरस्येत्याद्युक्तम् । स्वयंज्योतिष्ट्वश्रुतेरनतिशङ्क्यत्वात्तद्बलात्स्वप्नादौ हृदयाकाशादिसत्त्वेऽपि तत्संबन्धप्रतीत्यभावाद्विद्यमानस्याप्यविद्यमानतुल्यत्वेनाऽऽत्मनः केवलत्वात्प्रकाशदर्शनाच्च स्वयंज्योतिष्ट्वमिति बोधनीयं मनसोऽभाववादिनाऽप्येव मनसि सत्यपि तस्य वासनामयगजतुरगादि[7]विषयतया परिणामाद्दृश्यत्वाच्च द्रष्टुस्ततो भेदेन विवेकतः श्रुत्या स्वप्रकाशत्वं बोध्यत इत्याह—यथेत्यादिना । मनसीति । सत्यपीति शेषः । ननु मनश्चेदविद्यादिनिमित्तवशाद्गजतुरगादि-

---

है । मध्यस्थः—यदि ऐसा माने तो कि यह श्रुति अन्य काण्वशाखा की है । अतः उसकी यहाँ कोई अपेक्षा नहीं है ।

शंका :—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि हमें सब श्रुतियों के अर्थ की एकता बतलाना ही अभोष्ट है, सम्पूर्ण वेदान्त को एक आत्मतत्व का प्रतिपादन ही अभीष्ट है और वही जिज्ञासुओं को जानना इष्ट है । अतः श्रुति में आत्मा की स्वप्रकाशता की सिद्धि युक्ति-युक्त ही है । क्योंकि श्रुति यथार्थ तत्त्व को ही बतलाती है ?

समाधान :—अच्छा अब सभी प्रकार के अभिमान को छोड़कर श्रुति के अर्थ को सुनो क्योंकि स्वयं अपने आपको पण्डित मानने वाले सभी पुरुषों को सौ वर्ष में भी अभिमान पूर्वक श्रुति तात्पर्य को समझना शक्य नहीं है ।

---

१. सर्ववेदान्तेति—"सर्ववेदान्तप्रत्ययं चोदनाद्यविशेषात्" (ब्र. सू. ३। ३। १) सर्ववेदान्तैः प्रत्ययं प्रतीयमानान्युपासनानि न भिद्यन्ते । कुतः ? चोदनाद्यविशेषात् । यो ह वै ज्येष्ठं च श्रेष्ठं च प्राणं वेद, इत्यादि चोदनाया विधेः छन्दोगानां वाजसनेयिनां चाविशिष्टत्वादित्यर्थः । शिष्टं तत्रैव द्रष्टव्यम् । इत्ययमुपासनाविषयोऽपि न्यायः सर्ववेदान्तविषयेऽवतरतीति भावः । २. अर्थाभावात्त्यज्यतामिति—अभिधेयानुपपत्तेर्व्यर्थत्वात्त्यास्थीयतामित्यर्थः । ३. "तुल्यं च साम्प्रदायिकमिति" (जै. सू.१। २। ८) साम्प्रदायिकं गुरुपरम्परासम्प्रदायप्राप्तं स्वाध्यायविधिपरिगृहीतत्वानध्यायपाठाभावादिरूपपालनादिकं तुल्यं विध्यर्थवादयोः समानमिति न सपातायातमर्थवाद.दीत्यर्थः । ४. तर्हीति—अन्तेऽवश्यवक्तव्यश्चेदित्यर्थः । ५. मुख्यः श्रुत्यर्थ इति विग्रहः । ६. निरस्येति—हित्वा स्थाने समापतद् । ७. विषयतया परिणामादिति—तथा च मनस्त्वेन मनःप्रतीत्यभावस्तत्रेति भावः ।

दर्शयितुं शक्यत इत्यात्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वं न बाध्यते । एवं मनस्यविद्याकामकर्मनिमित्तोद्भूतवासनावति कर्मनिमित्तवासनाऽविद्ययाऽन्यद्वस्त्वन्तरमिव पश्यतः सर्वकार्यकरणेभ्यः प्रविविक्तस्य द्रष्टुर्वासनाभ्यो दृश्यरूपाभ्योऽन्यत्वेन स्वयंज्योतिष्ट्वं सुदर्पितेनापि तार्किकेण न वारयितुं शक्यते । तस्मात्साधूक्तं मनसि प्रलीनेषु करणेष्वप्रलीने च मनसि मनोमयः स्वप्नान्पश्यतीति ।

कथं महिमानमनुभवतीत्युच्यते । यन्मित्रं पुत्रादि वा पूर्वं दृष्टं तद्वासनावासितः

रूपेणाभिव्यक्तवासनावत्त्वाहि जाग्रतीव तस्याहंतयैव प्रतीतिः स्यान्नेदंतयाऽत आह—कर्मनिमित्तेति । तथा प्रतीतिं विना स्वप्ने भोगासिद्धेः स्वप्नभोगप्रदकर्मनिमित्तवशाज्जाग्रति गजादीनामिदंतयाऽनुभवेन तद्वासनानामपि तथैवानुभवार्हत्वेन तद्वासनारूपाविद्यावशाच्च वासनाश्रयस्य मनस इदंतयैव वस्त्वन्तरवत्प्रतीतिरित्यर्थः । इदं च विशेषणं मनसो विषयत्वेन विषयित्वासंभवाद्विषयिण आत्मन एव प्रकाशरूपत्वमिति वक्तुम् । जाग्रत्यादित्यादिकार्यज्योतिषां चक्षुरादिकरणज्योतिषां च सत्त्वेन तत्संकीर्णत्वेनाऽऽत्मनः स्वयंज्योतिष्ट्वं दुर्बोधं स्वप्ने तु तदभावात्सुबोधमिति वक्तुं सर्वकार्येत्यादि विशेषणम् । स्वप्न आदित्यादिकार्यकरणज्योतिषां भासमानत्वेऽपि तेषां वासनामात्रत्वाद्दृश्यत्वाच्च विषयप्रकाशनासामर्थ्यमिति वक्तुं वासनाभ्य इत्यादि विशेषणम् । एतैश्च विशेषणैः स्वप्न एवंभूते स्वयंज्योतिष्ट्वस्य बोधयितुं शक्यत्वादन्यत्रासंभवादत्रायमितिश्रुतौ स्वप्नविशेषणग्रहणमर्थवदित्युक्तमिति द्रष्टव्यम् । स्वयंज्योतिष्ट्वमिति । सिद्धमिति शेषः । अतः काण्वश्रुतौ स्वप्ने मनसोऽभावविवक्षाकारणाभावेन तद्विरोधाभावादत्र देवशब्देन परे देवे मनस्येकीभवतीत्युक्तं मन एवोच्यत इत्युक्तमुपसंहरति—तस्मादिति ।

नन्विन्द्रियाणामुपरतत्वाद्विषयसंबन्धाभावात्कथं मनसो महिमानुभव इति शङ्कते—कथमिति । पूर्वं ज्ञातस्यैव स्वप्ने ज्ञानात्तस्य वासनामात्रत्वमतो नेन्द्रियापेक्षेत्याह—उच्यत इति । यदिति । यन्मित्रं

जैसे स्वप्न के समय हृदयाकाश में और पुरीतत् नाड़ी में सोने वाले आत्मा का स्वप्रकाशत्व बाधित नहीं हो सकता, वैसे ही अविद्या, कामना और कर्म आदि के कारण उद्बुद्ध वासनाओं से युक्त होने पर भी मन में अविद्या के कारण प्राप्त कर्म निमित्तक वासना को अन्य वस्तु की भाँति देखने वाले तथा सम्पूर्ण कार्य-करणों से भिन्न द्रष्टा आत्मा का स्वप्रकाशत्व बड़े-बड़े दर्प युक्त तार्किकों द्वारा भी मिटाया नहीं जा सकता क्योंकि वह दृश्य वासनाओं से भिन्न द्रष्टारूप में ही स्थित है। अतः यह कहना सर्वथा उचित ही है कि इन्द्रियों के मन में लीन हो जाने पर और मन के लीन न होने पर मन के साथ तादात्म्य हुआ मनोमय आत्मा स्वप्नों को देखता रहता है ।

---

१. अन्यन्मनः । २. वस्त्वन्तरमिवेति—इदंतयेति यावत् । कार्यज्योतिः करणज्योतिर्भ्य इत्याह—सर्वेत्यादि । ३. मनोमयो मनोदेव इति यावत् । आत्मन एव द्रष्टृत्वेऽपि त्वमर्थविवेकार्थं स्वप्नस्य मनोधर्मत्वविवक्षणेनोपाधिप्रधानकत्वादस्य प्रकरणस्येत्यवधेयम् । मयट् टकारयन्नाह—आत्मन एवेति मयटा मनसः प्राधान्यं विवक्षितमिति भावः । ४. विशेषणमिति—पश्यत इत्यन्तं द्रष्टृविशेषणमित्यर्थः । ५. एवंभूते इति—यद्यप्युक्तविशेषणैरेवंभूतत्वमात्मनस्तथापि निमित्तत्वात्स्वप्नस्यापि तदिति भावः । ६. मनसो विषयसम्बन्धाभावे हेतुः—इन्द्रियाणामुपरतत्वादिति । चक्षुरादिद्वारक एव मनसो रूपादिसम्बन्धो न साक्षादिति । ७. पुत्रादीत्यस्य स्थाने पुत्रमिति पाठं मत्वाह—यन्मित्रमित्यादि ।

पुत्रमित्रादिवासनासमुद्भूतं पुत्रं मित्रमिव वाऽविद्यया पश्यतीत्येवं मन्यते, तथा श्रुतमर्थं तद्वासनयाऽनुशृणोतीव, देशदिगन्तरैश्च देशान्तरैर्दिगन्तरैश्च प्रत्यनुभूतं पुनः पुनस्तत्प्रत्यनुभवतीवाविद्यया, तथा दृष्टं चास्मिञ्जन्मन्यदृष्टं च जन्मान्तरदृष्टमित्यर्थः । अत्यन्तादृष्टे वासनानुपपत्तेः । एवं श्रुतं चाश्रुतं चानुभूतं चास्मिञ्जन्मनि केवलेन मनसाऽननुभूतं च मनसैव जन्मान्तरेऽनुभूतमित्यर्थः । सच्च परमार्थोदकादि । असच्च मरीच्युदकादि । किं बहुनोक्तानुक्तं सर्वं पश्यति सर्वः पश्यति [१]सर्वमनोवासनोपाधिः सन्नेवं [२]सर्वकरणात्मा मनोदेवः स्वप्नान्पश्यति ॥५॥

पुत्रं वा पूर्वं दृष्टवांस्तदेव दृष्टं पुत्रमित्रादिविषयवासनासमुद्भूतं मित्रं पुत्रं वाऽविद्यया पश्यतीति [३]दृष्टवानित्यादिपदाध्याहारेण वाक्यं योज्यम् । [४]अन्यथा पुत्रमिति द्वितीयाया यच्छब्दस्य चानन्वयः स्यादिति । चक्षुरभावेन दर्शनायोगान्मन्यत इत्युक्तम् । तथेति । अत्रापि योऽर्थः श्रुतस्तमेव श्रुतमर्थमित्यध्याहारेणैव श्रुतिर्योज्या । देशो नदीतीरादिः । दिक्प्राच्यादिरिति भावः । प्रत्यनुभूतं प्रतिवारमनुभूतं पुनः पुनरनेकदिनेष्वनेकस्वप्नेष्वनुभवतीत्यर्थः । जन्मान्तरदृष्टमिति व्याख्याने हेतुमाह—अत्यन्तेति । अनुभूतं चेत्यस्य प्रत्यनुभूतमित्यनेन पुनरुक्तिमाशङ्क्याह—केवलेनेति । पूर्वमि[५]न्द्रियद्वारकानुभव [६]उक्त इत्यपौनरुक्त्यमित्यर्थः । सर्वदर्शने हेतुमाह—सर्व इति ॥५॥

वह अपनी विभूति का अनुभव कैसे करता है ? इस पर कहते हैं कि जो मित्र या पुत्रादि उसके देखे हुए होते हैं । उन वासनाओं से वासित वह पुरुष पुत्र-मित्रादि की वासना से उद्भूत पुत्र या मित्र को मानो अविद्यावशात् देखता है, ऐसा समझता है । इसी प्रकार सुने हुए विषय को मानो उसकी वासना से सुनता है तथा देश-देशान्तरों में अर्थात् भिन्न-भिन्न दिशा एवं देशों में अनुभव किये हुए पदार्थों को अविद्या से बारम्बार अनुभव-सा करता है । इसी प्रकार इस जन्म में देखे हुए का अनुभव करता है क्योंकि अत्यन्त अदृष्ट पदार्थों में वासना का होना असंगत है एवं श्रुत-अश्रुत जिसका इसी जन्म में केवल अनुभव किया गया हो, ऐसे अनुभूत और जिसका मन से ही जन्मान्तर में अनुभव किया गया हो ऐसे इस जन्म में अननुभूत जलादि वास्तविक पदार्थ सत् और मृग-जलादि असत्, विशेष क्या कहें ऊपर कहे हुए या नहीं कहे हुए सभी पदार्थों को वह सभी मनोवासनारूप उपाधि वाला होकर देखता है । इस प्रकार यह सर्वेन्द्रियरूप मनोदेव स्वप्नों को देखता है ॥५॥

---

१. सर्वमनोवासनोपाधिरिति—सर्वमनोवासनाभिरुपहित उपभूत इति यावत् । सर्वविषयकवासनाभिरुपभूतत्वादेव सर्वः सन् सर्वं पश्यतीत्यर्थः । २. तदानीं चक्षुरादिसर्वकरणानां मनस्येव प्रलीनत्वादाह—सर्वकरणात्मेति । ३. दृष्टवानित्यादीत्यादिना तदेवेति गृह्यते । ४. दृष्टवानित्यनध्याहारे द्वितीया न लगेत्, तदोऽनध्याहारे तु यदिति न लगेदित्याह—अन्यथेत्यादिना । ५. इन्द्रियद्वारकेति—वस्तुतस्तु देशदिगन्तरप्रयुक्तत्वे सति मनःप्रयुक्तत्वं प्रत्यनुभूतेर्मनोमात्रप्रयुक्तत्वं चानुभूतेरित्येषा न भवेदुदक्षराकल्पनेति ध्येयम् । ६. उक्त इति—विवक्षित इत्यर्थः । आद्यमते पक्षान्तरे तु यथाश्रुत इति भेदः ।

स यदा तेजसाऽभिभूतो भवति। अत्रैष देवः स्वप्नान्न पश्यत्य[1]थ तदैतस्मिञ्शरीर एतत्सुखं भवति ॥६॥

जब वह मनोदेव (नाड़ी में रहने वाले पित्त नामक सौर) तेज से सर्वथा अभिभूत हो जाता है तब यह आत्मदेव स्वप्न नहीं देखता (क्योंकि उन्हें देखने का द्वार तेज से अवरुद्ध हो चुका है) उसके बाद इस शरीर में (साक्षी चैतन्य से) यह सुख जाना जाता है ॥६॥

स यदा मनोरूपो देवो यस्मिन्काले [2]सौरेण पित्ताख्येन तेजसा नाडीशयेन सर्वतोऽभिभूतो भवति [3]तिरस्कृतवासनाद्वारो भवति तदा [4]सह करणैर्मनसो रश्मयो हृद्युपसंहृता भवन्ति। यदा मनो दार्वग्निवद[5]विशेषविज्ञानरूपेण कृत्स्नं शरीरं व्याप्यावतिष्ठते तदा सुषुप्तो भवति। अत्रैतस्मिन्काल एष मनआख्यो देवः स्वप्नान्न [6]दर्शनद्वारस्य निरुद्धत्वा-

---

कस्यैतत्सुखं भवतीत्यस्योत्तरं तदपेक्षितं वदन्नाह—स यदेति। पित्ताख्येनेति। इदमुपलक्षणं चिद्रूपेण ब्रह्मणा चेत्यपि द्रष्टव्यम्। "तन्मनः प्राणमेवोपश्रयते" इतिश्रुत्यन्तरेण प्राणशब्दिते ब्रह्मणि तस्य लयाभिधानात्। तिरस्कृतेति। वासनाभिव्यक्तौ द्वारं स्वप्नभोगप्रदं कर्म यत्तत्तिरस्कृतं तत्रोपरतं भवति तेजःशब्दितब्रह्मचैतन्य[7]संबन्धादित्यर्थः। रश्मय इति। वासना इत्यर्थः। अविशेषविज्ञानेति। [8]सामान्यचैतन्यरूपेणेत्यर्थः। [9]चेतनाशब्दितसामान्यवृत्तिरूपेण वा। अनेन सुषुप्तमुक्तमित्याह—तदेति। नन्वथैतत्सुखं भवतीत्ययुक्तं जन्यसुखस्य तदानीमसंभवात्स्वरूपसुखस्य पूर्वमपि समत्वेन तदा भवतीत्यनु-

---

जब वह मन रूप देव नाड़ी के मध्यवर्त्ती पित्त नामक सौर तेज से अभिभूत हो जाता है अर्थात् जब उसकी वासनाओं की अभिव्यक्ति का द्वार बन्द हो जाता है, तब उस समय इन्द्रियों के सहित मन की रश्मियों का हृदय में उपसंहार हो जाता है। जैसे काष्ठ में व्याप्त अग्नि निर्विशेष रूप से स्थित रहता है, वैसे ही जब मन निर्विशेष विज्ञानरूप से सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त करके स्थित रहता है, उस समय वह सुषुप्त माना जाता है अर्थात् उस काल में यह मन नामक देव स्वप्नों को नहीं देखता क्योंकि

---

१. अथेति—अथैतस्मिन्नित्येव शोभनः पाठः। २. सौरेणेति—देहधातुभेदस्य पित्तस्य सौरत्वं सूर्योष्मणा नाडी प्रविष्टेन संजातपाकत्वादित्यवधेयम्। ३. तिरस्कृतेत्यादि—स्वप्नात्मना परिणतौ वासनैव द्वारं यस्य तिरस्कृतमित्यर्थः। दृष्टं हि बाह्योष्माद्याक्रान्तस्यापि विस्मरणादि तच्च संस्कारानुद्बोधादनुद्बोधश्चोष्माद्याक्रमादिति। ४. सह करणैरिति— करणानां लयस्य पुरस्तादेवोक्तत्वेऽपि दृष्टान्तार्थं पुनर्वचनं यथाकरणान्युपसंहृतानि तथा रश्मयोऽपीत्यर्थः। ५. अविशेषेत्यादि—मनो हि विज्ञानरूपमेव वृत्त्युद्भवे च विशेषविज्ञानरूपं तत् सुषुप्तौ चाविद्याविलीनत्वादविद्यात्मना कृत्स्नदेहव्यापित्वं तस्येत्यवधेयम्। ६. दर्शनद्वारस्येति—तेजसः पित्तत्वपक्षे वासनाजालस्येत्यर्थः। ७. सम्बन्धादिति—यज्ज्ञानादेव यदा कर्माणि भस्मीभवन्ति तदा साक्षात्तत्सम्बन्धे तु किमुवक्तव्यं कर्मोपरताविति भावः। तदैव तत्सम्बन्धे तु मूलं मृग्यम्। ८. सामान्यचैतन्यरूपेणेति—अविद्याविलीने मनसि विशेषाभासासंभवादविद्यावस्थिते च तस्मिन् सामान्यावभासस्यैव सत्त्वादिति भावः। ९. जीवनादृष्टावष्टब्धा काचन वृत्तिः सदैवावतिष्ठत इत्याशयेनाह—चेतनेत्यादि।

स यथा सोम्य वयांसि वासोवृक्षं संप्रतिष्ठन्ते ।
एवं ह वै तत्सर्वं पर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥७॥

हे सोम्य ! जैसे पक्षी अपने बसेरे वृक्ष की ओर जाते हैं वैसे ही वह सब परमात्मा में स्थित हो जाता है ॥७॥

त्तेजसा । [1]अथ तदैतस्मिञ्शरीर एतत्सुखं भवति यद्विज्ञानं निराबाधमविशेषेण शरीरव्यापकं प्रसन्नं भवतीत्यर्थः ॥६॥

एतस्मिन्काले[2]ऽविद्याकामकर्मनिबन्धनानि कार्यकरणानि शान्तानि भवन्ति । तेषु शान्तेष्वात्मस्वरूपमुपाधिभिरन्यथा विभाव्यमानम[3]द्वयमेकं शिवं शान्तं भवतीत्येतामेवावस्थां पृथिव्याद्य[4]विद्याकृतमात्रानुप्रवेशेन दर्शयितुं दृष्टान्तमाह—

स दृष्टान्तो यथा येन प्रकारेण सोम्य [5]प्रियदर्शन वयांसि पक्षिणो [6]वासार्थं वृक्षं

पद्यतेरित्याशङ्क्य स्वरूपसुखमेव विशेषविज्ञानरूपविक्षेपाभावे निर्वातस्थदीपप्रभावत्सम्यक्प्रकाशते तदपेक्षमेतद्वचनमित्याह—यद्विज्ञानमिति । विज्ञानरूपं स्वरूपसुखमित्यर्थः ॥६॥

अनेनाऽऽनन्दमयकोशशब्दितमनभिव्यक्तमनाद्यविद्यावासनावदज्ञानं सुषुप्तधर्मेत्युक्तं पञ्चमप्रश्नस्योत्तरं तुरीयस्वरूपं [7]विवेकसौकर्याद्विविच्या[8]त्रैवोच्यत इत्याह—एतस्मिन्निति । अन्यथेति । पूर्वमन्यथा विभाव्यमानमित्यर्थः । मात्रानुप्रवेशेनेति । मात्राणां [9]विवेकतोऽक्षरेऽनुप्रवेशेनेत्यर्थः ॥७॥

तेज के कारण उन्हें देखने का द्वार अवरुद्ध हो गया है; तत्पश्चात् इस शरीर में यह सुख होता है जो बाधा रहित और सामान्यरूप से सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त विज्ञान है, वही (सुखरूप से) स्फुट होता है। यह इसका अभिप्राय है ॥६॥

इस समय अविद्या, काम और कर्म इनके निमित्त से होने वाले कार्य-करण शान्त हो जाते हैं, उनके शान्त होते ही उपाधियों के कारण भिन्नरूप से भासित होने वाला आत्मस्वरूप अद्वय, एक शिव और शान्त स्वरूप ही वह तत्त्वविद् हो जाता है। अतः पृथिवी आदि अविद्या जनित विषयों के अनुप्रवेश द्वारा इसी अवस्था को दिखलाने के लिये दृष्टान्त देते हैं ।

---

१. अथ तदेत्यनया वाचोयुक्त्या "अथैतस्मिन्नि"त्येव मूलपाठमनुमिनुमः । २. अविद्येति—अन्यथाप्रतीतिरूपा कार्याविद्येत्यर्थः । तस्या एव तदानीमुपशमेन कार्याद्युपशमादित्यवधेयम् । ३. अद्वयमेकमिति—द्वयं भेदत्रयं पराहन्ति तत्राद्वयमिति द्वयमेकमित्येकमित्यवधेयम् । ४. अविद्याकृतेति—अनेनाविद्यायामेवानुप्रवेश इति सूचयति न्याय्यश्च स एव पुनरुद्भवात् । अविद्याद्वारकं च परात्मसंप्रतिष्ठानमप्यविरुद्धमित्यूहनीयम् । ५. सोम इव सोम्यः 'शाखादिभ्यो यः' इत्याशयेन व्याचष्टे—प्रियदर्शनेति । ६. पृषोदरादीनि यथोपदिष्टमिति न्यायेनाह—वासार्थमित्यादि । ७. ननु समाधौ वक्तव्यं किमिति सुप्तावुच्यते तत्राह—विवेकसौकर्यादिति । सुषुप्तौ हि सुकरो विवेकस्तस्याः सर्वसाधारणत्वादिति भावः । तस्याः सर्वसाधारणत्वादिति समाधिस्तु न तथेति भावः । ८. अत्रैवेति—सुप्त एवेत्यर्थः । ९. विवेकत इति—एकैकश इति यावत् ।

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चाऽऽपश्चाऽऽपोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाऽऽकाशश्चाऽऽकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च घ्रातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च

शब्दादि पाँच गुणों से युक्त पृथिवी और उसकी गंधतन्मात्रा, जल और रसतन्मात्रा, तेज और रूपतन्मात्रा, वायु और स्पर्शतन्मात्रा, आकाश और शब्दतन्मात्रा, नेत्र और द्रष्टव्य रूप विषय, श्रोत्र और उसका श्रोतव्य विषय शब्द घ्राण और घ्रातव्य विषय गन्ध, त्वगिन्द्रिय और स्पर्श योग्य

वासोवृक्षं प्रति संप्रतिष्ठन्ते गच्छन्ति । एवं यथा दृष्टान्तो ह वै तद्वक्ष्यमाणं सर्वं पर आत्मन्यक्षरे संप्रतिष्ठते ॥७॥

किं तत्सर्वम् ?—

पृथिवी च स्थूला पञ्चगुणा [1]तत्कारणा च पृथिवी मात्रा च गन्धतन्मात्रा, तथाऽऽपश्चाऽऽपोमात्रा च । तेजश्च तेजोमात्रा च । वायुश्च वायुमात्रा च । आकाशश्चाऽऽकाशमात्रा च । स्थूलानि च सूक्ष्माणि च भूतानीत्यर्थः । तथा चक्षुश्चेन्द्रियं रूपं च द्रष्टव्यं च । श्रोत्रं च श्रोत्रव्यं च । घ्राणं च घ्रातव्यं च । [2]रसश्च रसयितव्यं च । त्वक्च स्पर्शयितव्यं च । वाक्च वक्तव्यं च । हस्तौ चाऽऽदातव्यं च । उपस्थश्चाऽऽनन्दयितव्यं च । पायुश्च विसर्जयितव्यं च । पादौ च गन्तव्यं च । बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि तदर्था-

---

आपोमात्रा इत्यत्र विभक्त्यलोपश्छान्दसः । स्थूलानि चेति । पञ्चीकृतानि चेत्यर्थः । ततश्च

वह दृष्टान्त इस प्रकार है । हे प्रिय दर्शन ! जैसे पक्षी अपने बसेरे वृक्ष की ओर जाते हैं, जैसा यह दृष्टान्त है, वैसा ही आगे कहे जाने वाला वह सब सर्वातीत अक्षर आत्मा में जाकर स्थित हो जाता है ॥७॥

शब्दादि पाँच गुणों से युक्त स्थूल पृथिवी और उसकी कारण रूपा गन्ध तन्मात्रा तथा जल और रस तन्मात्रा, तेज और रूप तन्मात्रा, वायु और स्पर्श तन्मात्रा एवं आकाश और शब्द तन्मात्रा अर्थात् सम्पूर्ण स्थूल और सूक्ष्मभूत वैसे ही चक्षुरिन्द्रिय और उसके द्रष्टव्यरूप, श्रोत्र और श्रोतव्य शब्द, घ्राण और घ्रातव्य गन्ध एवं रसनेन्द्रिय और रसयितव्य, त्वक् और स्पर्शयितव्य, वाणी और वक्तव्य वचन, हाथ और उससे ग्रहण योग्य वस्तु, उपस्थ और आनन्दयितव्य, गुदा और उससे त्यागने योग्य मल, पाद और गन्तव्य स्थान, इस प्रकार कही गई ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ तथा पूर्वोक्त मन और उसका मन्तव्य विषय, निश्चयात्मिका वृत्ति बुद्धि और उसका विषय, बोधव्य पदार्थ, अभिमानात्मक

---

१. तत्कारणेति—'ष्यासश्रन्थो युच्' कारणपर्यायता चास्य प्रकरणादित्यवधेयम् । २. रसश्चेति—रसोऽत्र रसनेन्द्रिय तत्प्रकरणात् ।

वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्थश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहङ्कारश्चाहंकर्तव्यं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च ॥८॥

पदार्थ, हाथ और ग्रहण तद्ग्राह्य वस्तु, उपस्थ और आनन्दयितव्य वस्तु, पायु और विसर्ग जनित मल, पाद और गन्तव्य स्थान, मन और मनन योग्य वस्तु, बुद्धि और बोधयितव्य पदार्थ, अहंकार और अहंकार रूप विषय, चित्त और चेतनीय पदार्थ, तेज और प्रकाश्य पदार्थ, (प्रकाशक और प्रकाश के योग्य वस्तु) प्राण और उसके धारण करने योग्य वस्तु (ये सभी आत्मा में विलीन हो जाते हैं) ॥८॥

श्चोक्ताः । मनश्च पूर्वोक्तम् । मन्तव्यं च तद्विषयः । बुद्धिश्च निश्चयात्मिका । बोद्धव्यं च तद्विषयः । अहंकारश्वाभिमानलक्षणमन्तःकरणमहंकर्तव्यं च तद्विषयः । चित्तं च [1]चेतनावदन्तःकरणम् । चेतयितव्यं च तद्विषयः । तेजश्च त्वगिन्द्रियव्यतिरेकेण [2]प्रकाशविशिष्टा या [3]त्वक्तया निर्भास्यो विषयो विद्योतयितव्यम् । प्राणश्च सूत्रं यदाचक्षते तेन विधारयितव्यं संग्रथनीयं सर्वं हि कार्यकरणजातं [4]पारार्थ्येन संहतं नामरूपात्मकमेतावदेव ॥८॥

पञ्चीकरणमेतच्छ्रुतिसिद्धमित्युक्तमन्यथाऽऽकाशाकाशमात्रयोः पृथगुक्त्यनुपपत्तेरिति । यद्यपि मन्तव्यादयो मनआदिचतुष्टयविषया अपि द्रष्टव्यादिविषया एव न पृथक्तयाऽपि मन्तव्यत्वादिरूपेण पृथगिति पृथङ्निर्दिष्टा इति द्रष्टव्यम् । प्रकाशविशिष्टा या त्वगिति । [5]त्वगाश्रयं चर्म तत्प्रकाशनिर्भास्यं च तदेवेत्यर्थः । पृथिवी चेत्यादिना विधारयितव्यं चेत्यन्तेनाऽऽत्मव्यतिरिक्तं तदुपाधिभूतं सर्वं चोक्तमित्याह—सर्वं हीति ॥८॥

अहंकाररूप अन्तःकरण और उसका विषय अहंकर्तव्य, चेतना युक्त अन्तःकरणरूप चित्त और उसका चिन्तनीय विषय, त्वगिन्द्रिय से भिन्न प्रकाश विशिष्ट त्वग्रूप तेज और उससे प्रकाशित होने वाला विषय चर्म तथा प्राण जिसे सूत्रात्मा कहते हैं और उससे धारण करने योग्य (ये सभी सुषुप्ति के समय आत्मा में स्थिर हो जाते हैं क्योंकि) आत्मा के लिये संघात को प्राप्त नाम-रूपात्मक सम्पूर्ण कार्यकरण समुदाय इतना ही है ॥८॥

---

१. चेतनावदिति—स चिदाभासमित्यथः । यद्वा चेतना चिन्तना । २. प्रकाशविशिष्टा या त्वगिति—त्वग्गतो यः प्रकाश इत्यर्थः । तया तेन प्रकाशेन विषयस्त्वगाख्यं चर्म । ३. विद्योतयितव्यमिति समभिव्याहारान्नात्र दिव्यं तेजोविवक्षितमध्यात्मप्रकरणाविरोधात् तेजश्च तेजोमात्रेत्यत्र तत्संग्रहाच्चेत्याशयेनाह—त्वगिति । ४. संहतत्वात्परार्थं यदर्थं चैतत् स सर्वस्मादस्मात्पर एवेति त्वमर्थशोधनं विवक्षित्वाऽऽह—पारार्थ्येनेत्यादि । ५. त्वगिति—त्वगाश्रय इति युक्तं वक्तुम् ।

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता
मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः ।
स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥ ९ ॥

यही देखने वाला, स्पर्श करने वाला, सुनने वाला, सूँघने वाला, चखने वाला, मनन करने वाला, जानने वाला और कर्ता विज्ञानात्मा पुरुष है। वह (सुषुप्ति के समय जगत् के आधारभूत) पर अक्षर आत्मा में सम्यक्रूप से स्थित हो जाता है ॥९॥

अतः परं यदात्मरूपं जलसूर्यकादिवद्भोक्तृत्वकर्तृत्वेनेहानुप्रविष्टम्—

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा विज्ञानं विज्ञायतेऽनेनेति करणभूतं बुद्ध्यादि, इदं तु विजानाति विज्ञानं कर्तृकारकरूपं तदात्मा तत्स्वभावो विज्ञातृस्वभाव इत्यर्थः। पुरुषः कार्यकरणसंघातोक्तोपाधिपूर्णत्वात्पुरुषः स च जलसूर्यकादिप्रतिबिम्बस्य सूर्यादिप्रवेशवज्जलाद्याधारशोषे परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ॥९॥

एष हि द्रष्टेत्यादिनोपहितस्वरूपमुच्यत इत्याह—अतः परमिति। द्रष्टेति। उपाधिकृतमपि द्रष्टृत्वादिकमुपाधिव्यतिरिक्तेऽनुपहित आत्मान्यारोपितं स्फटिके लौहित्यवदस्तीत्युपाधिभिन्नोऽप्यात्मा द्रष्टेत्यादिनोक्तः। विज्ञानात्मेत्यत्र द्रष्टेत्यादाविव कर्तृवाचकतृचोऽभावात् 'विज्ञानं यज्ञं तनुते' (तै. २-५) इत्यादाविव बुद्धेरभिधाने पौनरुक्त्यमाशङ्क्याऽऽह—विज्ञानमिति। करणभूतमिति। 'विज्ञानमय इत्यादावित्यर्थः। एष हीति हिशब्दश्चशब्दार्थकः स च संप्रतिष्ठत इति क्रियानुकर्षणार्थ इति 'वदन्द्रष्टुरात्मनः पृथिव्यादिवत्स्वरूपेणाक्षरे लयो न संभवतीत्याशङ्क्योपाधिलय उपहितरूपाभाव एवास्य लय इत्याह—स चेति ॥९॥

सुषुप्ति में जीव परमात्मा को प्राप्त कर लेता है

जैसे जल में सूर्यादि प्रतिबिम्बित होते हैं, वैसे ही जो आत्मस्वरूप परतत्त्व इस शरीर में कर्ता-भोक्तारूप से अनुप्रविष्ट हुआ है, अब इसके आगे यही बतलाया जायगा।

यही देखने वाला, स्पर्श करने वाला, सुनने वाला, सूँघने वाला, चखने वाला, मनन करने वाला, जानने वाला, कर्ता, विज्ञान आत्मा जिसके द्वारा जाना जाता है वह बुद्धि आदि ज्ञान के साधन स्वरूप हैं किन्तु यह आत्मा उन्हें जानता है। इसलिये यह कर्ता-कारकरूप विज्ञान है। वह वैसे स्वभाव वाला विज्ञातृ स्वरूप है और कार्य-करण संघातरूप पूर्वोक्त उपाधि में पूर्ण होने से यह पुरुष कहा जाता है। जैसे जल में दीखने वाला सूर्य का प्रतिबिम्ब जलरूप उपाधि के नष्ट होने पर सूर्य में प्रविष्ट हो जाता है, वैसे ही यह द्रष्टा-श्रोता आदिरूप से कहा गया पुरुष जगत् के आधाररूप अक्षर स्वरूप परमात्मा में सम्यक् प्रकार से स्थित हो जाता है ॥९॥

---

१. द्रष्टा "सृजिदृशोर्झल्यमकिति" (पा. अ. ६-१-५८)। स्रष्टा 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्" (पा. अ. ६-१-५९)। २. जलसूर्यकेति—जले सूर्य इव प्रकृतिर्जलसूर्यकः। ३. जलसूर्यकेति जले सूर्य इव प्रतिकृतिर्जलसूर्यकः। "इवे प्रतिकृतौ" (पा. अ. ५-३-९६) इति कन्। नासौ प्रतिकृतिः काष्ठादिप्रतिमारूपेत्याशयेनाह—प्रतिबिम्बेति। जलसूर्यकश्चासौ प्रतिबिम्बश्चेति विग्रहः। ४. विज्ञानमय इति—'अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः' इत्यादि वाक्यप्रतीकोऽयम्। ५. अनुकर्षणार्थं इति—अन्वयार्थं इति यावत्। ६. वदन्—विवक्षन्।

**परमेवाक्षरं प्रतिपद्यते स यो ह वै तदच्छायम-
शरीरमलोहितं शुभ्रमक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य ।
स सर्वज्ञः सर्वो भवति तदेष श्लोकः ॥ १० ॥**

हे सोम्य ! (सम्पूर्ण एषणाओं मे छूटा हुआ अधिकारी पुरुष) इस तमोहीन, लोहितादि सम्पूण गुणों से रहित, शुभ्र अक्षर को जो जानता है, वह सर्वज्ञ हो जाता है और सर्वरूप हो जाता है, अर्थात् सर्वाधिष्ठान चैतन्य ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। इस विषय में यह श्लोक (मन्त्र) है ॥१०॥

तदेकत्वविदः फलमाह—

परमेवाक्षरं वक्ष्यमाणविशेषणं प्रतिपद्यत इत्येतदुच्यते । स यो ह वै तत्[१]सर्वैषणाविनिर्मुक्तोऽच्छायं तमोवर्जितम् । अशरीरं नामरूपसर्वोपाधिशरीरवर्जितम् । अलोहितं लोहितादिसर्वगुणवर्जितम् । यत एवमतः शुभ्रं शुद्धं सर्वविशेषणरहितत्वात् । अक्षरं सत्यं पुरुषाख्यम् । अप्राणममनोगोचरं शिवं शान्तं सबाह्याभ्यन्तरमजं वेदयते विजानाति ।

एवं जाग्रदादीनामन्यधर्मत्वोक्त्या शोधिततुर्यात्मानुवादेन तस्याक्षरैक्याभिधानपुरःसरं तज्ज्ञानस्य फलमुच्यत उत्तरवाक्येणेत्याह—तदेकत्वेति । वक्ष्यमाणलक्षणमक्षरं प्रतिपद्यत इत्येवंरूपं फलमाहेत्यन्वयः । उत्तरवाक्यमिति शेषः । उक्तमर्थं श्रुत्यक्षरारूढमाह—एतदुच्यत इति । स इत्यस्यार्थमाह—सर्वेति । अत्राधिकारिणो दुर्लभत्वं स यो ह वा इत्येनेनोक्तम् । स यः कश्चिदेवा[२]पूर्ववत्तदच्छायादिविशेषणमक्षरं वेदयत इत्येकं वाक्यं समापनीयम् । 'यस्तु वेदयते स सर्वज्ञः' इति वाक्यान्तरं कार्यमन्यथा यच्छब्दद्वयानन्वयात् । आद्यवाक्येऽच्छायादिविशेषणत्रयेण कारणसूक्ष्मस्थूलशरीरत्रयनिराकरणेनावस्थात्रयनिराकरणेनावस्थात्रयराहित्यमनूद्यते । लोहितादि(सर्व)गुणवर्जितमित्यनेन तद्गुणकस्थूलशरीरवर्जितमिति प्रतीतेः । शुभ्रमित्यनेन तमेव तुरीयमनूद्य तस्याक्षरसामानाधिकरण्येनैक्यमुक्तमिति विवेकः । अत्राक्षरमित्यनेनाक्षरं पुरुषं वेद सत्यं स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजोऽप्राणो ह्यमनाः शुभ्र इति मन्त्रोक्तानि सर्वाणि विशेषणान्यात्मोपलक्षणान्यात्मोपलक्षणार्थं संगृहीतानीत्याह—सत्यमित्यादिना । यस्तु सर्वत्यागीत्यत्रापि वाक्ये वेदयत इत्यस्यानुषङ्गः । अत्र सर्वज्ञ इत्यनेन 'कस्मिन्नु

आत्मा-परमात्मा के एकत्व विज्ञान का फल बतलाते हैं।

हे सोम्य ! वह आगे बतलाये जाने वाले विशेषणों से युक्त परम अक्षर को प्राप्त कर लेता है; ऐसा उस ज्ञानी के सम्बन्ध में कहते हैं। निःसन्देह सम्पूर्ण एषणाओं से छूटा हुआ जो भी अधिकारी पुरुष तमोगुण रहित नाम-रूपात्मक सम्पूर्ण औपाधिक शरीरों से हीन लोहितादि सभी प्रकार गुणों से वर्जित है; क्योंकि ऐसा है इसीलिये विशुद्ध सम्पूर्ण विशेषणों से रहित होने के कारण अक्षर पुरुष नामक सत्य, प्राण रहित मन का अविषय, कल्याण स्वरूप, शान्त, बाहर भीतर विद्यमान, अजन्मा परब्रह्म को

---

१. कः क्षमो वेदयितुमित्यपेक्षितमाह—सर्वैषणाविनिर्मुक्त इति । २. अपूर्ववदिति—आश्चर्यवदिति यावत् ।

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि
संप्रतिष्ठन्ति यत्र । तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य
स सर्वज्ञः सर्वमेवाऽऽविवेशेति ॥ ११ ॥
इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि चतुर्थः प्रश्नः ॥ ४ ॥

हे सौम्य ! जिस अक्षर में अग्नि आदि समस्त देवों के सहित विज्ञानात्मा प्राण और पृथिव्यादि भूत सम्यक् प्रकार से प्रतिष्ठित होते हैं, उसे जो जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सभी में प्रविष्ट हो जाता है ॥११॥

यस्तु [1]सर्वत्यागी सोम्य स सर्वज्ञो न तेनाविदितं किंचित्संभवति । पूर्वमविद्ययाऽसर्वज्ञ आसीत्पुनर्विद्ययाऽविद्यापनये [2]सर्वो भवति तत्तस्मिन्नर्थ एष श्लोको मन्त्रो भवति उक्तार्थसंग्राहकः ॥१०॥

विज्ञानात्मा सह देवैश्चाग्न्यादिभिः प्राणाश्चक्षुरादयो भूतानि पृथिव्यादीनि संप्रतिष्ठन्ति प्रविशन्ति यत्र यस्मिन्नक्षरे तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य प्रियदर्शन स सर्वज्ञः सर्वमेवाऽऽविवेशाऽऽविशतीत्यर्थः ॥११॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये चतुर्थः प्रश्नः ॥४॥

भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवति' (मु.उ. १-१-३) इति प्रतिज्ञातं सर्वविज्ञानमुक्तम् । सर्वात्मत्वस्य ज्ञानजन्यत्वेऽनित्यत्वं स्यादत आह—पूर्वमिति । एवं चाऽऽरोपनिवृत्तिद्वाराऽभूततद्भावो विवक्षित इत्याह—सर्वो भवतीति ॥१०॥

अग्न्यादिभिरिति । ततश्च चक्षुश्च द्रष्टव्यं चेत्यत्रापि चक्षुरादिभिर्देवा अप्युपलक्षिता इति व्याख्यातम् ॥११॥

इत्यानन्दज्ञानविरचितप्रश्नोपनिषद्भाष्यटीकायां चतुर्थः प्रश्नः ॥४॥

जानता है और जो सबका त्यागी है, वह सर्वज्ञ हो जाता है । उससे अविदित कुछ भी नहीं रह जाता है । वह अविद्यावश भले असर्वज्ञ था पुनः ब्रह्मविद्या द्वारा अविद्या के नष्ट होने पर वह सर्वरूप हो जाता है । उसी अर्थ में पूर्वोक्त अर्थ का संग्रहरूप यह मन्त्र है ॥१०॥

अक्षर ब्रह्म के ज्ञान का फल

अग्नि आदि देवों के सहित चक्षुरादि प्राण और पृथिवी आदि भूत तथा विज्ञानात्मा जिस अक्षर में प्रवेश करते हैं; हे प्रिय दर्शन ! उस अक्षर को जो जानता है, वह सर्वज्ञ पुरुष सभी में प्रविष्ट हो जाता है (अर्थात् उसकी सर्वभावापत्ति हो जाती है) ॥११॥

---

१. यथोक्तवेदनलिङ्गं तुनाऽऽलिङ्गितमिङ्गयति—सर्वत्यागीति । वैराग्यमात्रेण बाह्यार्थत्यागसंभवेऽप्यहंताद्य-त्यागादव्यभिचार इति सर्वेत्युक्तम् । २. सर्वज्ञो भवतीति वक्तव्ये सत्याह—सर्वो भवतीति । को हेतुः सर्वश्चासौ ज्ञश्चेति । अस्तु वा सर्वात्माभेदेनैव सर्वज्ञत्वमिति ।

॥ अथ पञ्चमः प्रश्नः ॥

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ । स यो ह वै तद्भगवन्मनुष्येषु प्रायणान्तमोंकारमभिध्यायीत । कतमं वाव स तेन लोकं जयतीति तस्मै स होवाच ॥ १ ॥

तदनन्तर इन पिप्पलाद मुनि से शिबि के पुत्र सत्यकाम ने पूछा—हे भगवन् ! मनुष्यों में जो (कोई विरला) पुरुष मरणपर्यन्त ओंकार का चिन्तन करे, वह किस लोक को जीतता है ? ॥१॥

॥ अथ पञ्चमः प्रश्नः ॥

अथ हैनं शैब्यः सत्यकामः पप्रच्छ ।

अथेदानीं परापरब्रह्मप्राप्तिसाधनत्वेनोंकारस्योपासनविधित्सया प्रश्न आरभ्यते—स यः कश्चिद्ध वै भगवन्मनुष्येषु मनुष्याणां मध्ये तदद्भुतमिव प्रायणान्तं मरणान्तं यावज्जीवमित्येतदोंकारमभिध्यायीताऽऽभिमुख्येन चिन्तयेत् । बाह्यविषयेभ्य

एवं चतुर्थप्रश्नेनोत्तमाधिकारिणः पदार्थशोधनपूर्वकवाक्यार्थज्ञानेनाक्षरप्राप्तिमुक्त्वाऽत्रानधिकारिणो मन्दवैराग्यवत "ओमित्येवं ध्यायत आत्मानम्" (मु. २-२-६) "प्रणवो धनुः"(मु. २-२-४) इत्यादिमन्त्रसूचितं ब्रह्मलोकप्राप्तिद्वारा क्रमेणाक्षरप्राप्त्यर्थमोंकारोपासनं वक्तुं पञ्चमप्रश्नमवतारयति—अथ हैनमिति ।

इदानीमिति । गार्ग्यप्रश्ननिर्णयानन्तरमित्यर्थः । परेति । अपरब्रह्मलोकप्राप्तिक्रमेण परब्रह्मलोकप्राप्तिसाधनत्वेनेत्यर्थः । तदद्भुतमिवेति । तदिति क्रियाविशेषणं तादृशमभिध्यानमिति, तेन विशेषणेनाद्भुतत्वं दुष्करत्वं भातीत्यर्थः । अभिध्यानेन तत्पूर्वकालीने [१]प्रत्याहारधारणे सूचिते इत्याह—बाह्येति । भक्त्याऽऽदरेणोप[२]चारेणवाऽऽवेशित आरोपितो ब्रह्मभावो यस्मिन्नोंकारे

। पञ्चम प्रश्न ।

ओंकार उपासक किस लोक को प्राप्त करता है ?

उसके पश्चात् उन पिप्पलाद मुनि से शिबि के पुत्र सत्यकाम ने पूछा ।

अब यहाँ पर, पर और अपर ब्रह्म को प्राप्ति के साधन रूप से ओंकार उपासना का विधान करने के लिये अग्रिम प्रश्न प्रारम्भ किया जाता है ।

हे भगवान् ! मनुष्य जाति के मध्यवर्ती जो कोई आश्चर्यमय विरल पुरुष पूर्ण जीवन ओंकार का मुख्यरूप से चिन्तन करे (तो वह उस उपासना के फल स्वरूप किस लोक पर विजय प्राप्त करता

---

१. प्रत्याहारधारण इति—"स्वविषयाऽसंप्रयोगे चित्तस्य स्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां प्रत्याहारः" (यो.सू. २-४५) । "देशबन्धश्चित्तस्य धारणा" (यो.सू. ३-२)इति योगसूत्रे । २. उपचारेणेति—गौण्या वृत्त्येत्यर्थः ।

एतद्वै सत्यकाम परं चापरं च ब्रह्म यदोंकारः ।
तस्माद्विद्वानेतेनैवाऽऽयतनेनैकतरमन्वेति ॥ २ ॥

उस सत्यकाम से पिप्पलाद ने कहा—हे सत्यकाम ! यह जो ओंकार है, वह निश्चय पर (सत्य अक्षर) ब्रह्म अथवा हिरण्यगर्भ रूप अपर ब्रह्म है। अतः विद्वान् उपासक (ओंकार में ब्रह्म-चिन्तन रूप) इसी उपाय से पर और अपर ब्रह्म में से किसी एक को प्राप्त कर लेता है ॥२॥

उपसंहृतकरणः समाहितचित्तो भक्त्यावेशितब्रह्मभाव ओंकारे। आत्मप्रत्ययसंतानाविच्छेदो भिन्नजातीयप्रत्ययान्तराखिलीकृतो निर्वातस्थदीपशिखासमोऽभि[1]ध्यानशब्दार्थः। सत्यब्रह्मचर्याहिंसापरिग्रहत्यागसंन्यासशौचसंतोषाऽमायावित्वाद्यनेक[2]यमनियमानुगृहीतः स एवं [3]यावज्जीवव्रतधारणः। कतमं वावानेके हि ज्ञानकर्मभिर्जेतव्या लोकास्तिष्ठन्ति तेषु तेनोंकाराभिध्यानेन कतमं स लोकं जयतीति पृष्टवते तस्मै स होवाच पिप्पलादः ॥१॥

एतद्वै सत्यकाम। एतद्ब्रह्म वै परं चापरं च ब्रह्म परं सत्यमक्षरं पुरुषाख्यमपरं

तस्मिन्समाहितचित्त इत्यन्वयः। अनेन धारणोक्ता। ध्यानशब्दार्थमाह—आत्मेति। संतानाविच्छेद इत्यविच्छिन्नसंतान इत्यर्थः। प्रत्ययान्तरेण विजातीयप्रत्ययेनाखिलीकृतोऽ[4]नन्तरितः। चित्तस्याऽऽत्मविषयस्यैव सत [5]एकदेशेन विक्षेपं वारयति—निर्वातेति। ध्यानेनैव यमादिसाधनजातमपि सूचितमित्याह—सत्येति। कतममितिडतमचोऽर्थ बहुषु निर्धारणं दर्शयति—अनेके हीति। ओंकाराभिध्यानं ध्यानत्वाद्दहराद्युपासनवदपरप्राप्तिसाधनमेवोत परप्राप्तिसाधनमपीति प्रष्टुरभिप्रायः ॥१॥

तदभिप्रायज्ञः पिप्पलादोऽपरालम्बनतया ध्यानं चेदपरप्राप्तिमात्रसाधनं परालम्बनत्वेन चेत्क्रमेण परप्राप्तिसाधनमित्युत्तरमाह—एतद्वा इति। एतच्छब्दयोर्नपुंसकयोरोंकारविशेषणत्वायोगाद्ब्रह्मविशेषणत्वमाह—एतद्ब्रह्मेति। किं तद्ब्रह्मेत्यत आह—परं चेति। यदेतत्परं चापरं च

है) बाह्य विषयों से इन्द्रियों को हटाकर एकाग्रचित हो भक्ति के द्वारा जिसमें ब्रह्मभाव की प्रतिष्ठा की गयी है, उस ओंकार में आत्मप्रत्यय संतति का विच्छेद न हो और भिन्नजातीय प्रतीतियों से उसमें कोई बाधा न आवे तथा वह वायु रहित स्थान में रखे हुए दीपक की शिखा के समान स्थित हो जाय, बस इस प्रकार का ध्यान ही अभिध्यान शब्द का अर्थ है। सत्य भाषण, ब्रह्मचर्य पालन, अहिंसा, परिग्रह का त्याग, संन्यास, शौच, सन्तोष, निष्कपटता आदि अनेक यम-नियमों से सम्पन्न होकर यावज्जीवन ऐसा व्रत धारण करने वाले को भला कौन-सा लोक प्राप्त होगा क्योंकि ज्ञान और कर्म से अनेकों लोक प्राप्त होने योग्य हैं, उनमें से उस ओंकार चिन्तन द्वारा वह उपासक किस लोक पर विजय प्राप्त करता है ॥१॥

---

१. ध्यानेति—"तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम्" (यो. सू. ३-२) इति योगसूत्रम्। २. यमनियमेति। अहिंसासत्याऽस्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः" (यो.सू. २-३०)। "शौचसंतोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः" (यो.सू.२-३२) इतियोगसूत्रे। ३. यावज्जीवेत्यादि—'यावति विन्दजीवोः' (पा. अ. ३.४.३०) इति णमुलन्तत्वे तु मकारोऽपि प्राप्नोतीति ध्येयम्। ४. अखिलोऽखण्ड इत्याशयेनाह—अनन्तरित इति। अखण्डित इत्यर्थः। अव्यवहित इति यावत्। ५. एकदेशेनेति—एकेनापि देशेन, कस्मिंश्चिदपि देश इति यावत्।

च प्राणाख्यं प्रथमजं यत्तदोंकार एवोंकारात्मकमोंकारप्रतीकत्वात् । परं हि ब्रह्म शब्दाद्युपलक्षणानर्हं सर्वधर्मविशेषवर्जितमतो न शक्यमतीन्द्रियगोचरत्वात्केवलेन मनसाऽवगाहितुमोंकारे तु विष्ण्वादिप्रतिमास्थानीये भक्त्यावेशितब्रह्मभावे ध्यायिनां तत्प्रसीदतीत्यवगम्यते, शास्त्रप्रामाण्यात्तथाऽपरं च ब्रह्म । तस्मात्परं चापरं च ब्रह्म यदोंकार इत्युपचर्यते । तस्मादेवं विद्वानेतेनैवाऽऽत्मप्राप्तिसाधनेनैवोंकाराभिध्यानेनैकतरं परमपरं

ब्रह्मास्ति तदुभयमोंकार इति वाक्यान्वय इत्यर्थः । न चैवं ब्रह्मोद्देशेनोंकारत्वविधाने ब्रह्मण्योंकारदृष्टिः प्रसज्येतेति शङ्क्यम् । "ब्रह्मदृष्टिरुत्कर्षादि"ति न्यायेन '[1]लोकेषु सामोपासीतेत्यादाविव निकृष्ट ओंकार एव ब्रह्मदृष्टिः सिध्यतीति भावः । तयोर्भेदात्कथमैक्यमित्याशङ्क्योपचारादित्याह—ओंकारप्रतीकत्वादिति । अनेन सामानाधिकरण्येनोंकारस्य प्रतीकत्वमुपदिश्यत इति भावः । ननु किं प्रतीकोपदेशेन '[2]साक्षादेव ब्रह्माभिधीयतामत आह—परं हीति । शब्दादीति । शब्दादिभिः साक्षाद्बोधनानर्हमित्यर्थः । आदिशब्देनानुमानादि गृह्यते । प्रवृत्तिनिमित्तस्य धर्मस्य लिङ्गस्य चाभावादिति तत्र हेतुमाह—सर्वेति । '[3]न शक्यमित्यवगाहितुमित्यन्वयः । '[4]तर्हीन्द्रियैर्मनसा वा तद्ग्रहोऽस्त्वित्यत आह—अतीन्द्रियेति । मनसेतीन्द्रियैर्वेत्यपि द्रष्टव्यम् । तर्हि तथाविधस्योंकारेऽप्या'[5]वेशासंभवात्किंचिद्विशेषमारोप्याऽऽवेशो वक्तव्यः । अत एव सूर्यान्तर्गतत्वं विशेषं '[6]वक्ष्यति ओंकारतादात्म्यं च, तत्कथं निर्विशेष[त्व]लाभोऽत आह—ओंकारे त्विति । प्रसीदतीति । तदुपासनेन चित्तस्य नैर्मल्ये सति निर्विशेषं स्वयमेव प्रकाशत इत्यर्थः । तत्र मानमाह—शास्त्रेति । अन्यथा परब्रह्मार्थिनस्तदुक्तिवैयर्थ्यादित्यर्थः । तथाऽपरं चेति । प्रसीदतीत्यन्वयः । तस्मादिति । प्रतीकत्वादित्यर्थः । तस्मादेवं विद्वानिति । '[7]ब्रह्मत्वाद्ब्रह्मत्वार्हमिति विद्वानित्यर्थः । एतेनैवेत्यनन्तरमायतनेनाऽऽलम्बनेनेति पदद्वयं प्रमादतो गलितमिति द्रष्टव्यम् । तस्य पदस्य पिण्डितार्थमाह—ओंकारेति । न त्वे'[8]तच्छब्दार्थकथनमेतदिति द्रष्टव्यमभिध्यानस्याऽऽयतनत्वा-

---

ओंकार उपासना से पर और अपर ब्रह्म की प्राप्ति

इस प्रकार प्रश्नकर्ता सत्यकाम से उस पिप्पलाद मुनि ने कहा कि हे सत्यकाम! यह सत्य अक्षर एवं पुरुष नामक परब्रह्म और जो प्रथम उत्पन्न प्राण नामक अपर ब्रह्म है, वह ओंकार रूप प्रतीक वाला होने के कारण ओंकार स्वरूप ही है। परब्रह्म शब्दादि से उपलक्षित होने के अयोग्य और सभी प्रकार के विशेष धर्म से रहित है। अतः इन्द्रियों का अविषय होने के कारण केवल मन से उसका अवगाहन नहीं किया जा सकता किन्तु जैसे विष्णु का ध्यान प्रतिमा में किया जाता है, वैसे ही प्रतिमा-स्थानीय ओंकार में भक्ति के द्वारा ब्रह्मभाव की स्थापना की गयी है। इस प्रकार परब्रह्म ध्यान करने वालों के ऊपर प्रसन्न होता है। यह बात शास्त्र प्रमाण से जानी जाती है। वैसे ही अपर ब्रह्म भी

---

१. लोकेष्वित्यादि—छान्दोग्ये 'लोकेषु पञ्चविधं सामोपासीत"(छा.२.२.१)इत्येवमपि सत्यां वाचो युक्तौ साम्न्येव-यथा लोकदृष्टिरभ्युपेयते तद्वदित्यर्थः । २. साक्षादेवेति मोक्षार्थिनामुपासनार्थं तत्त्वतो यद् ब्रह्म तदेवोपदिश्यतां तत्प्रतिनिधिभूतोङ्कारोपदेशः किमितीति भावः । ३. न शक्यमित्यादि—अत्र शब्दादिभिरिति शेषो द्रष्टव्य इति दृश्यते । ४. तर्हीति—शब्दादिभिरनवगाह्यत्व इत्यर्थः । ५. आवेशेति—सम्बन्धेति यावत् । ६. वक्ष्यतीति—यः पुनरेतं त्रिमात्रेणेत्यादिवाक्येन वक्ष्यतीत्यर्थः । ७. ब्रह्मत्वाद्ब्रह्मत्वार्हमिति—अत्र ब्रह्मत्वार्हत्वाद्ब्रह्मेति ब्रह्मप्रतीकत्वाद्ब्रह्मेति वा पाठोऽपेक्षितः प्रतिभाति । ८.एतच्छब्देति—आयतनशब्देत्यर्थः ।

स यद्येकमात्रमभिध्यायीत स तेनैव संवेदित-स्तूर्णमेव जगत्यामभिसंपद्यते । तमृचो मनुष्य-लोकमुपनयन्ते स तत्र तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संपन्नो महिमानमनुभवति ॥ ३ ॥

यदि वह एक मात्रा-विशिष्ट ओंकार का चिन्तन करता है, तो उससे बोध प्राप्त कर शीघ्र ही पृथिवी लोक में प्राप्त हो जाता है। उसे ऋचाएँ मनुष्यलोक को ले जाती हैं। वहाँ पर वह तप, ब्रह्मचर्य और श्रद्धा से सम्पन्न होकर अपनी महिमा का अनुभव करता है ॥३॥

वाऽन्वेति ब्रह्मानुगच्छति 'नेदिष्ठं ह्यालम्बनमोंकारो ब्रह्मणः ॥२॥

स यद्यप्योंकारस्य 'सकलमात्राविभागज्ञो न भवति तथाऽप्योंकाराभिध्यानप्रभावाद्विशिष्टामेव गतिं गच्छति। एतदेकदेशज्ञानवैगुण्यतयोंकारशरणः कर्मज्ञानोभयभ्रष्टो न दुर्गतिं गच्छति । किं तर्हि यद्यप्येवमोंकारमेवैकमात्राविभागज्ञ एव केवलोऽभिध्यायीतैकमात्रं सदा

भावादिति। इतरोपासनावदस्याप्युपासनत्वात्परप्रापकत्वं न संभवतीत्यत आह—नेदिष्ठमिति। 'मन-आद्यपेक्षयेदं नेदिष्ठं समीपवर्त्यन्तरङ्गं श्रेष्ठमालम्बनम् 'एतदालम्बनं परम्' (का.उ. १-२-१७) इत्यादि-श्रुतेरित्यर्थः ॥२॥

नेदिष्ठत्वमेव 'संस्तुवन्नुत्तरवाक्येन साधयति—स यदिति। विकलस्यापि फलजनकत्वान्नेदिष्ठत्वमित्यर्थः। सकलेति। अकारादिमात्रात्रयात्मक ओंकारः स चोपासितव्य इति न जानाति, किं त्वकारमात्रमुपासितव्यं जानातीत्यर्थः। तथाऽप्येकदेशज्ञानवैगुण्यतया दुर्गतिं न गच्छति, किं तर्ह्योंकाराभिध्यानप्रभावात्तदेकदेशध्यानप्रभावाद्विशिष्टामेव गतिं गच्छतीत्यन्वयः। तात्पर्यार्थमुक्त्वेदानीमक्षरार्थमाह—यद्यप्येवमिति। यदिशब्दो यद्यपीत्यर्थे व्याख्यातः। एवं च स तेनैवेत्यतः प्राक्तथाऽपीति पदं द्रष्टव्यम्। एकमात्रमिति। एकमात्रात्मकमोंकारमकारमित्यर्थः। एकमात्राविशिष्टेत्यत्रा-

---

ओंकार उपासक के ऊपर प्रसन्न होता है। अतः पर और अपर ब्रह्म ओंकार ही है। ऐसा औपचारिक दृष्टि से कहा जाता है। अतः इस प्रकार उपासना करने वाला विद्वान् आत्मप्राप्ति के इस ओंकार चिन्तन रूप साधन के द्वारा ही पर या अपर किसी एक ब्रह्म को अवश्य प्राप्त कर लेता है क्योंकि ओंकार सबसे अधिक समीपवर्ती ब्रह्म का आलम्बन है ॥२॥

एक मात्रा-विशिष्ट ओंकार उपासना का फल

यद्यपि वह ओंकार की सभी मात्राओं का ज्ञाता नहीं होता, फिर भी ओंकार चिन्तन के प्रभाव से वह उपासक विशिष्ट गति को ही प्राप्त करता है, अर्थात् ओंकार की शरण में जाने वाला

---

१. नेदिष्ठमिति—अन्तिकबाढयोर्नेदसाधौ । २. सकलमात्राविभागज्ञो न भवतीति। अकार उकारो मकार इति तिस्रो मात्राः। तासामग्निवायुसूर्या ऋषयः। ब्रह्मविष्णुमहेश्वरा देवताः। अधिदैवतं भूर्भुवःस्वः स्थानानि। अध्यात्म जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्यानि। ऋग्यजुःसामानि वेदा इति शाखान्तरगतः सकलमात्राविभागानभिज्ञ इति वर्णयन्ति केचित्। विष्णिवति—अत्र सोमदैवत्ये इति वक्ष्यमाणं चतुर्थमन्त्रभाष्यं प्रतिकूलमिव भाति। नक्षत्राणामहं शशीति कृत्वा वा समीकरणीयं भवेदिति मन्तव्यम्। ३ मनआदीति—मनो ब्रह्मेत्युपासीतेत्यादावुक्तेत्यादिः ४. संस्तुवन्निति—प्रणवमित्यादिः ।

ध्यायीत स तेनैवैकमात्राविशिष्टोंकाराभिध्यानेनैव संवेदितः संबोधितस्तूर्णं क्षिप्रमेव जगत्यां पृथिव्यामभिसंपद्यते । किं ? मनुष्यलोकम् । अनेकानि हि जन्मानि जगत्यां संभवन्ति तत्र तं साधकं जगत्यां मनुष्यलोकमेवर्च उपनयन्त उपनिगमयन्ति [1]ऋचः । [2]ऋग्वेदरूपा ह्योंकारस्य प्रथमैकमात्राऽभिध्याता तेन । स तत्र मनुष्यजन्मनि द्विजाग्र्यः संस्तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया च संपन्नो महिमानं विभूतिमनुभवति न वीतश्रद्धो यथेष्टचेष्टो भवति योगभ्रष्टः कदाचिदपि न दुर्गतिं गच्छति ।।३।।

ष्येकमात्रात्वविशिष्टेत्यर्थः । ओंकारेति । तदवयवेत्यर्थः । एकमात्राप्रधानमप्रधानीभूतमात्राद्वयं कृत्स्नमोंकारमिति केचिद्व्याचक्षते । दीपिकायां वाचस्पत्ये चाकारमात्रमित्येव व्याख्यातम् । संबोधित इति । तन्मात्राध्यानेन [3]तन्मात्रासाक्षात्कारवानित्यर्थः । पृथिव्यां किमभिसंपद्यत इति कर्माऽऽकाङ्क्षते—(२) किमिति । मनुष्यलोकमितिपदमिहाऽऽकृष्याऽऽकाङ्क्षां पूरयति—मनुष्यलोकमिति । मनुष्यशरीरमित्यर्थः । पृथिव्यां मनुष्यलोकस्यैव नियमात्तदुक्तिवैयर्थ्यमत आह—अनेकानि हीति । पश्वादीनि हीत्यर्थः । तर्हि तस्य नियमेन कथं मनुष्यत्वप्राप्तिरत आह—तत्र तमिति । ऋग्वेदरूपा हीति । 'पृथिव्यकारः स ऋग्वेदः' इति श्रुतेरकारस्य तद्रूपत्वमित्यर्थः । अभिध्याताऽकाररूपा मात्रा ऋग्वेदरूपेत्यन्वयः । तेनेति । येनर्ग्वेदरूपत्वं तस्य तेनर्चो मनुष्यलोकमुपनयन्त इत्यर्थः । वीतश्रद्ध इति । श्रद्धाविरहितः सन्नित्यर्थः । योगभ्रष्ट इति । एकदेशज्ञानविकल इत्यर्थः । अनेन 'न हि कल्याणकृत्कश्चित्'इति गीतावाक्यसंवादः सूचितः ।।३।।

पुरुष इसके एकांश ज्ञानरूप दोष से कर्म और ज्ञान के फल से भ्रष्ट होकर दुर्गति को कभी भी प्राप्त नहीं करता तो फिर वह किसे प्राप्त करता है ? वह इस प्रकार यद्यपि ओंकार को केवल एकमात्रा का ज्ञाता होकर केवल एकमात्रा विशिष्ट ओंकार का ही सदा चिन्तन करता है, फिर भी वह उस एकमात्रा विशिष्ट ओंकार के ध्यान से ही बोध प्राप्त कर तत्काल ही पृथिवी लोक में आ जाता है । (पृथिवी लोक में) किस शरीर में जाता है ? मनुष्यलोक को प्राप्त करता है क्योंकि संसार में अनेक प्रकार के जन्म हो सकते हैं, उनमें से उस साधक यानी उस एकमात्रा विशिष्ट ओंकार के उपासक को ऋचाएँ संसारान्तर्वर्ती मनुष्यलोक को ही ले जाती हैं, क्योंकि ध्यान की गयी ओंकार की अकाररूप एकमात्रा ऋग्वेद स्वरूपा है । इससे उस मनुष्य जन्म में वह उपासक द्विजश्रेष्ठ होकर तप, ब्रह्मचर्य एवं श्रद्धा से सम्पन्न हो विभूति का अनुभव करता है, श्रद्धा शून्य हो स्वेच्छाचारी नहीं होता । ऐसा योग भ्रष्ट पुरुष कभी भी दुर्गति को प्राप्त नहीं होता ।।३।।

---

१. ऋच इति—तदभिमानिनो देवा इत्यर्थ एवमग्रेऽपि बोध्यम् । २. ऋग्वेदरूपा हीति—अत्रेयं छान्दोग्यश्रुतिरनुकूलाभवति । तथाहि—'प्रजापतिर्लोकानभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयी विद्यासंप्रास्रवत्तामभ्यतपत्तस्या अभितप्ताया एतान्यक्षराणि संप्रास्रवन्त भूर्भुवःस्वरिति' (छा. २-२३-२) । तान्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्य ओङ्कारः संप्रास्रवदित्येवमादिः । ३. तन्मात्रासाक्षात्कारवानिति—तत्र तादात्म्याभिमानवानिति यावत् ।

अथ यदि द्विमात्रेण मनसि संपद्यते सोऽन्तरिक्षं यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकम् । स सोमलोके विभूति-मनुभूय पुनरावर्तते ॥४॥

यदि वह (अ, उ, इन) दो मात्राओं से विशिष्ट ओंकार का चिन्तन करता है, तो उस चिन्तन द्वारा मन के साथ एकत्व को प्राप्त करता है, उस समय यजुर्वेद की श्रुतियों द्वारा वह अन्तरिक्ष में स्थित सोमलोक को ले जाया जाता है अर्थात् उक्त श्रुतियाँ सोमलोक सम्बन्धी जन्म प्राप्त करा देती हैं। तत्पश्चात् सोमलोक में विभूति का अनुभव कर वह पुरुष फिर मनुष्यलोक में लौट आता है ॥४॥

अथ पुनर्यदि द्विमात्राविभागज्ञो द्विमात्रेण विशिष्टमोंकारमभिध्यायीत [1]स्वप्नात्मके मनसि मननीये [2]यजुर्मये [3]सोमदैवत्ये संपद्यत एकाग्रतयाऽऽत्मभावं गच्छति । स एवं संपन्नो मृतोऽन्तरिक्षम[4]न्तरिक्षाधारं [5]द्वितीयमात्रारूपं द्वितीयमात्रारूपैरेव यजुर्भिरुन्नीयते सोमलोकं

द्विमात्रेण विशिष्टमिति । [6]द्वितीयमात्रत्वेन विशिष्टमोंकारं तद्गतमुकारमित्यर्थः । न तु मात्राद्वयमकारस्य पूर्वमेवोक्तत्वादत एव द्वितीयमात्रारूपमिति वक्ष्यति । श्रुतौ तृतीया द्वितीयार्थे, ओंकारमभिध्यायीतेत्युपक्रमादिति भावः । अत्राभिध्यानं तादात्म्याभिमानपर्यन्तमिति वक्तुं मनसि संपद्यत इति वाक्यं [7]तत्र [8]साक्षान्मनःसंपत्तेः साधनत्वेन वा फलत्वेन वाऽनन्वयान्मनःशब्देन तत्परिणाम-स्वप्नादिलक्षणाद्द्वारा स्वप्नयजुराद्यात्मत्वेन श्रुत्यन्तरे श्रुतोंकार एव लक्ष्यत इत्याह—स्वप्नात्मक इति । उकारे संपत्तिपर्यन्तमभिध्यानं यः करोतीति वाक्यार्थ इत्यर्थः । अत्र केचित्तु यदीत्यादिर्यः पुनरित्यन्तं न

द्विमात्रा-विशिष्ट ओंकार उपासना का फल

यदि वह अकार और उकार इन दो मात्राओं के विभाग को जानने वाला होकर द्विमात्रा से विशिष्ट ओंकार का चिन्तन करता है तो वह सोम देवता वाले स्वप्नात्मक यजुर्वेद स्वरूप मननीय मन को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् एकाग्रता द्वारा उपर्युक्त गुण विशिष्ट मन को आत्मभाव से प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार साधन सम्पन्न वह साधक पुरुष मरकर अन्तरिक्ष के आधार द्वितीय मात्रा स्वरूप चन्द्रलोक में द्वितीयमात्रा रूप यजुः श्रुतियों द्वारा ले जाया जाता है अर्थात् यजुः श्रुतियाँ

---

१. स्वप्नस्य मनःपरिणामत्वात्तेन तं लक्षयित्वाऽऽह—स्वप्नात्मक इति । २. मनसैव मननीयत्वाद्यजुर्वेद-लक्षणयाह—यजुर्मय इति । तद्रूप इत्यर्थः । ३. 'चन्द्रमा मनसो जातः' इति सम्बन्धात्सोमलक्षणामाह—सोमदैवत्य इति । विशेषणत्रयविशेष्यमोङ्कार इति सोऽप्युकारात्मक एवात्रेत्यवधेयम् । ४. अन्तरिक्षाधार-मिति—अन्तरिक्षं नभो यस्याधारस्तं सोमलोकमित्यन्वयः । ५. द्वितीयमात्रारूपमिति—सोमलोकविशेषणं तस्य तत्त्वं च श्रुतेरेवेति भावः । ६. द्वितीयमात्रत्वेनेति—बहुव्रीहेस्त्वः । द्वितीयमात्रात्वेनेत्येव वा वक्तव्यम् । त्वे चेति वैकल्पिको वा ह्रस्वः । ७. तत्र वाक्ये मनःशब्देनोङ्कार एव लक्ष्यत इत्यन्वयः । ८. लक्षणाबीजमन्व-यानुपपत्तिमाह—साक्षादित्यादिना । 'यो मनसि संपद्यते सोऽन्तरिक्षमुन्नीयते' इति न मनःसंपत्तेः साधनत्वेनान्वयः । नापि यो द्विमात्रमभिध्यायति स मनसि संपद्यत इति फलत्वेन वा तस्मादित्यर्थः । शक्यं साक्षादित्युक्तम् ।

यः[१] पुनरेतं त्रिमात्रेणोमित्येतेनैवाक्षरेण परं पुरुषमभिध्यायीत स तेजसि सूर्ये संपन्नः। यथा पादोदरस्त्वचा विनिर्मुच्यत एवं ह वै स पाप्मना विनिर्मुक्तः

परन्तु जो पुरुष त्रिमात्रा विशिष्ट 'ॐ' इस अक्षरात्मक प्रतीकरूप से परम पुरुष की उपासना करता है वह (तृतीय मात्रा रूप होकर) तेजोमय सूर्य लोक में स्थित हो जाता है। जैसे सर्प केंचुली से

---

[१]सौम्यं जन्म प्रापयन्ति तं यजूंषीत्यर्थः। स तत्र विभूतिमनुभूय सोमलोके मनुष्यलोकं प्रति पुनरावर्तते ॥४॥

यःपुनरेतमोंकारं त्रिमात्रेण त्रिमात्राविषयविज्ञानविशिष्टेनोमित्येतेनैवाक्षरेण [३]परं

स्तुतिः। किं तूक्तफलायाकारे विश्वाभिन्नविराडुपासनमुकारे तैजसाभिन्नहिरण्यगर्भोपासनं च विवक्षितमित्याहुः। तन्मते मनःशब्देन तत्परिणामस्वप्नाभिमानी हिरण्यगर्भ उच्यत इति वक्तुं स्वप्नात्मक इत्यादिविशेषणानीति बोध्यम्। दीपिकायां तु [४]मात्राद्वयस्य मिलितस्योपासनं मनसि संपत्तिश्च मनसैकाग्रतया चिन्तनमिति न व्याख्यातम् ॥४॥

एवमोंकारं स्तुत्वा [५]तदुपासनं परब्रह्मविषयं विधत्ते—यः पुनरिति। विज्ञानविशिष्टेनेति। विज्ञानविषयीकृतेनेत्यर्थः। मात्रात्रयात्मना ज्ञातेनेति यावत्। पूर्ववदत्रापि त्रिमात्रेणेत्यत्र तृतीया मात्रा मकार उच्यत इति भ्रमं वारयितुमोमित्येतेनैवाक्षरेणेत्युक्तम्। पूर्वत्र तत्तन्मात्राप्रधान ओंकार एवोच्यत इति मत इहैवेदं विशेषणमनुपपन्नं पूर्वत्राप्योंकारस्यैवोक्तत्वादिति तन्मतमनुपपन्नमिव भातीति।

उस उपासक को सोमलोक सम्बन्धी सौम्य जन्म को प्राप्त कराती हैं, उस सोमलोक में विभूति का अनुभव कर वह उपासक पुनः मनुष्य लोक में लौट आता है ॥४॥

द्विमात्रा विशिष्ट ओंकार उपासना का फल

किन्तु जो उपासक इन तीन मात्रा विषयक ज्ञान से विशिष्ट "ओम्" इस अक्षरात्मक प्रतीक रूप से सूर्यमण्डल मध्यवर्ती पर पुरुष का चिन्तन करता है, वह उस चिन्तन के फलस्वरूप तृतीय मात्रा

---

१. सौम्यमिति—सोमसदृशमित्यर्थः। सोम इव सोम्यं शाखादिभ्यो यः ततः प्रज्ञाद्यण्। जन्म शरीरम्।
२. ओङ्काराभिन्नम्। ३. परं सूर्यान्तर्गतमित्यनेनापर ब्रह्म वात्रावगम्यते। टीकायां च परब्रह्मविषयमित्युक्तं तथापि परब्रह्मावाप्तिकामनयैव शास्त्रमनुसरन् सूर्यान्तर्गतमेव पुरुषं ध्यायतीत्युभयं संगच्छत इयि ध्येयम्।
४. मात्राद्वयस्य मिलितस्येति—दीपिकामतं युक्तं यतस्त्रिमात्रेणेत्यत्र मात्रात्रयमेव गृह्यत इत्यवधेयम्। यद्वा यः पुनरेत त्रिमात्रेणेत्यत्र तृतीममात्रायामवान्तरविवक्षामुपगम्य तन्मात्रावलम्बनश्च सूर्यं सम्पद्यापि निवर्तते तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः। 'आब्रह्मभुवनाल्लोकाः' इत्यादि श्रुतिस्मृतिभ्यः। समग्रोङ्कारावलम्बनस्तु परं पुरुषमीक्षत इति व्याख्येयम्। तथा च सति तिस्रो मात्रा मृत्युमत्य इति वक्ष्यमाणमाञ्जस्येनोपपद्यत इत्यलम्।
५. तदुपासनमिति—तत्प्रतीकमुपासनमित्यर्थः।

स सामभिरुन्नीयते ब्रह्मलोकं स एतस्माज्जीवघना-त्परात्परं पुरिशयं पुरुषमीक्षते तदेतौ श्लोकौ भवतः ॥५॥

छूट जाता है, वैसे ही वह उपासक निश्चय ही सम्पूर्ण पाप से मुक्त हो जाता है, फिर तो वह साम श्रुतियों के द्वारा ऊपर की ओर ब्रह्मलोक में ले जाया जाता है। इस जीवन से उत्कृष्ट, हृदय में स्थित परम पुरुष का दर्शन करता है, इसी विषय में ये दो श्लोक हैं ॥५॥

सूर्यान्तर्गतं पुरुषं प्रतीकेनाभिध्यायीत [1]तेनाभिध्यानेन, [2]प्रतीकत्वेन ह्यालम्बनत्वं प्रकृतमोंकारस्य परं चापरं च ब्रह्मेत्यभेदश्रुतेरोंकारमिति च द्वितीयाऽनेकशः श्रुता बाध्येतान्यथा। यद्यपि [3]तृतीयाभिधानत्वेन [4]करणत्वमुपपद्यते तथाऽपि प्रकृतानुरोधात्त्रिमात्रं परं पुरुषमिति द्वितीयैव [5]परिणेया "[6]त्यजेदेकं कुलस्यार्थे" इति न्यायेन, स तृतीयमात्रारूपस्तेजसि

त्रिमात्रेणेति तृतीयाश्रवणादोंकारो न [7]प्रतीकं तथा सति विषयत्वेन कर्मतया द्वितीया स्यात्किं त्वभिधायकत्वेन करणत्वमेव तृतीयाबलादिति भ्रमं वारयति—प्रतीकेनेति। तस्य कर्मत्वेऽपि कारकत्वेनाभिध्यानक्रियानिर्वर्तकत्वेन हेतुत्वात्तन्मात्रविवक्षया तृतीयोपपद्यत इत्यर्थः। एवं व्याख्याने हेतुमाह—प्रतीकत्वेनेति। अभेदेति। प्रतीकत्वे ह्यधिष्ठानाध्यस्यमानयोस्तादात्म्यारोपादभेदश्रवणमुपपद्यते करणत्वे तु न तदुपपद्यत इत्यर्थः। अनेकश इति। ओंकारमभिध्यायीत स यद्येकमात्रमभिध्यायीतेति द्विवारं श्रुतेत्यर्थः। अन्यथेत्यस्य बाध्येतेत्यनेनान्वयः। अथ यदि द्विमात्रेण यः पुनरेतं त्रिमात्रेणेति च तृतीयाऽपि द्विवारं श्रुता हेतुत्वापेक्षया करणत्वेन स्वरसा च कारकविभक्तित्वात्ततस्[8]तस्या अपि बाधो न युक्त इति शङ्कते—यद्यपीति। द्वितीयाद्वयस्यापि कर्मत्वे स्वारस्याद्[9]उपक्रमस्थत्वाच्च तस्यैव प्राबल्यमित्याह—तथाऽपीति। प्रकृतेति। प्रक्रमानुरोधादित्यर्थः। किंच द्वितीयाद्वयमुक्ताभेदश्रुतिः। एतेनैवाऽऽयतनेनैकतरमन्वेति, आयतनेनैवान्वेतीत्यालम्बनवाच्यायतनश्रुतिद्वयं चेति बहुश्रुत्यनुरोधेन तृतीयाद्वयं त्याज्यमित्याह—त्यजेदेकमिति। तृतीयमात्रारूप इति। यद्यपि मात्रात्रयध्यानान्मात्रात्रयरू-

---

रूप होकर तेजोमय सूर्यलोक में सम्पन्न हो जाता है, वह मरने के बाद भी चन्द्रलोकादि के समान सूर्यलोक से लौटता नहीं, किन्तु सूर्य में लीन होकर ही स्थित रहता है। "परं चापरं च ब्रह्म" इस अभेद श्रुति द्वारा प्रतीक रूप से ओंकार में आलम्बनत्व बतलाया गया है (अर्थात् ब्रह्म प्राप्ति में ओंकार को साधन नहीं कहा है, किन्तु ब्रह्म के ध्यान में प्रतीकरूप से ओंकार को आलम्बन कहा गया है) अन्यथा

---

१. तेनाभिध्यानेन सूर्ये सम्पन्नो भवतीत्यन्वयः। २. प्रतीकत्वेनेति—न तु वाचकत्वेनेति भावः। ३. तृतीयेत्यादि—तृतीया अभिधानं यस्य तत्त्वेन तृतीयान्तपदबोध्यत्वेनेति यावत्। ४. करणत्वमिति—प्रणवस्येत्यादिः। ५. परिणेयेति—परिणमनीयेत्यर्थः। ६. त्यजेदित्यादि—"ग्रामस्यार्थे कुलं त्यजेत्। ग्रामं जनपदस्यार्थे आत्मार्थे सकलं त्यजेत्' इति न्यायशेषः। ७. प्रतीकमिति—अङ्गं प्रतीकोऽवयव इत्यमरस्ततो नपुंसकत्व चिन्त्यम्। ८. तस्या अपीति—करणतृतीयाया अभेदश्रुतेरिवेत्यपेरर्थः। ९. उपक्रमस्थत्वाच्चेति—उपक्रमस्याद्युत्पन्नत्वेन ज्येष्ठत्वात्तदनुसारित्वं युक्तं कनिष्ठस्येति भावः।

सूर्ये संपन्नो भवति ध्यायमानो मृतोऽपि सूर्यात्सोमलोकादिव न पुनरावर्तते, किंतु सूर्ये [1]संपन्नमात्र एव । यथा पादोदरः सर्पस्त्वचा विनिर्मुच्यते जीर्णत्वग्विनिर्मुक्तः स पुनर्नवो भवति । एवं ह वा एष यथा दृष्टान्तः स पाप्मना सर्पत्वक्स्थानीयेना[2]शुद्धिरूपेण विनिर्मुक्तः सामभिस्तृतीयमात्रारूपैरू[3]र्ध्वमुन्नीयते ब्रह्मलोकं हिरण्यगर्भस्य ब्रह्मणो लोकं सत्याख्यम् । स हिरण्यगर्भः सर्वेषां संसारिणां जीवानामात्मभूतः । स ह्यन्तरात्मा लिङ्गरूपेण सर्वभूतानां तस्मिन्हि लिङ्गात्मनि [4]संहता सर्वे जीवाः । तस्मात्स जीवघनः । स विद्वांस्त्रिमात्रोंकाराभिज्ञ एतस्माज्जीवघनाद्धिरण्यगर्भात्परात्परं परमात्माख्यं पुरुषमीक्षते पुरिशयं सर्वशरीरानुप्रविष्टं [5]पश्यति ध्यायमानः । तदेतस्मिन्यथोक्तार्थप्रकाशकौ मन्त्रौ भवतः ॥५॥

पित्वमेव तस्य तथाऽपि तृतीयमात्राया एवेहासाधारण्यात्तत्प्राधान्येन निर्देश इति बोध्यम् । तृतीयमात्रारूप इति सप्तम्यन्तपाठे तत्सूर्यविशेषणं [6]मकारस्याऽऽदित्यात्मकत्वादिति । हिरण्यगर्भस्य जीवघनत्वम[7]नागतावेक्षणन्यायेनोपपादयति—स हिरण्यगर्भ इति । लिङ्गरूपेणेति । समष्टिलिङ्गरूपेणेत्यर्थः । तस्मिन्हीति । समष्टिलिङ्गात्मनि हिरण्यगर्भे व्यष्टिलिङ्गाभिमानिनः सर्वे जीवा गोत्वसामान्ये खण्डमुण्डादय इव [8]संहता इत्यर्थः । इदानीं वाक्यं योजयति—स विद्वानिति । स विद्वानिदानीं ध्यायमानः पश्चाद्ब्रह्मलोकं प्राप्तः । तत्र ब्रह्मलोके स्थावरजङ्गमेभ्यः पराज्जीवघनात्परं पुरुषं पश्यति ततो मुक्तो भवतीत्यन्वयः ॥५॥

अनेक श्रुतियों में जो 'ओंकारम्' ऐसी द्वितीया विभक्ति आयी है, वह बाधित हो जायगी। यद्यपि 'ओमित्येतेन' इसमें तृतीया विभक्ति होने के कारण ब्रह्मप्राप्ति के लिये ओंकार में साधनत्व मानना भी ठीक है तथापि 'कुल के हित के लिये एक व्यक्ति का त्याग कर देना चाहिये' इस न्याय से प्रकरणानुसार 'त्रिमात्रं परं पुरुषम्' इस प्रकार द्वितीया विभक्ति में ही इसे बदलना चाहिये ।

जैसे सर्प केंचुली से छूट जाता है और वह जीर्ण त्वचा से छूठा हुआ पुनः नवीन हो जाता है, जैसा यह दृष्टान्त है वैसे ही वह साधक सर्प को केंचुली सदृश मलिन पाप से छूटकर तृतीय मात्रा रूप साम श्रुतियों द्वारा ऊपर की ओर हिरण्यगर्भ रूप बह्मा के सत्य नामक ब्रह्मलोक को ले जाया जाता है। वह हिरण्यगर्भ सम्पूर्ण संसारी जीवों का आत्मस्वरूप है। वही लिंगदेह रूप से समस्त जीवों का अन्तरात्मा है क्योंकि उस लिंगात्मा हिरण्यगर्भ में सभी जीव संहत हैं। अतः वह जीव घन है। त्रिमात्र ओंकार का ज्ञाता एवं ध्याता वह विद्वान् इस उत्तम जीवघन स्वरूप हिरण्यगर्भ से ही श्रेष्ठ एवं सम्पूर्ण शरीरों में अनुप्रविष्ट परमात्मा नामक पुरुष को देखता है। इसी पूर्वोक्त अर्थ को बतलाने वाले आगे के दो मन्त्र हैं ॥५॥

---

१. संपन्नमात्र एव स पाप्मनेत्यन्वयः । २. अशुद्धिरूपेणेति—आत्मदर्शनप्रतिबन्धकीभूतेनेत्यर्थः । ३. ऊर्ध्वमुन्नीयत इति—अनेन ब्रह्मलोकः सूर्यमण्डलादप्युपरिष्टाद्वर्तत इत्यवगम्यते । क्वचित्तु मण्डलस्यैव तल्लोकावभासता तु मण्डलद्वारैव प्राप्यत्वादित्यवधेयम् । ४. संहताः—संघीभूताः समर्पिता वर्तन्त इति यावत् । ५. पश्यति ध्यायमान इति—ब्रह्मणोपदिष्टं तत्त्व क्षणं विमृशन्नित्यर्थः । टीका त्वत्रत्या भिन्नमार्गा । ६. मकारस्याऽऽदित्यात्मकत्वादिति श्रुतिवचोऽत्र मृग्यम् । ७. अनागतावेक्षणन्यायेनोपपादयतीति—वक्ष्यमाणजीवघनत्वमालोच्य तदुपपादनाय हिरण्यगर्भस्वरूपं दर्शयतीत्यर्थः । ८. संहता इति—उपाधिभेदेन कल्पिता इति यावत् ।

[1]तिस्रो मात्रा मृत्युमत्यः [2]प्रयुक्ता अन्योन्यसक्ता अन-
विप्रयुक्ताः । क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु सम्यक्-
प्रयुक्तासु न कम्पते ज्ञः ॥६॥

अकार, उकार और मकार—ये तीनों मात्राएँ भिन्न-भिन्न रहने पर मृत्यु से युक्त हैं। वे मात्राए ध्यान की क्रियाओं में प्रयुक्त होती हैं और वे परस्पर सम्बन्ध हैं तथा (विपरीत प्रयोग न किये जाने के कारण ये) अनविप्रयुक्त हैं। इस प्रकार बाह्य जाग्रत् रूप, आभ्यन्तर सुषुप्ति रूप और मध्यम स्वप्न रूप क्रियाओं में ओंकार की उक्त तीन मात्राओं का सम्यक् प्रयोग किये जाने पर विद्वान् पुरुष फिर अपने स्वरूप से विचलित नहीं होता ॥६॥

तिस्रस्त्रिसंख्याका अकारोकारमकाराख्या ओंकारस्य मात्राः । मृत्युमत्यः, मृत्युर्यासां विद्यते ता मृत्युमत्यो मृत्युगोचराद[3]नतिक्रान्ता मृत्युगोचरा एवेत्यर्थः । [4]ता आत्मनो ध्यान-क्रियासु प्रयुक्ताः । किंचान्योन्यसक्ता इतरेतरसंबद्धाः । अनविप्रयुक्ता विशेषेणै[5]कैकविषय एव प्रयुक्ता विप्रयुक्ताः । न तथा विप्रयुक्ता अविप्रयुक्ता नाविप्रयुक्ता अनविप्रयुक्ताः ।

तत्र यः पुनरेतमित्यादिनोक्तेऽर्थे आद्यं मन्त्रं योजयति—तिस्र इति । मृत्युगोचरा इति । [6]प्रत्येकं ब्रह्मदृष्टि च विना [7]तदुपासकानां मृत्य्वनतिक्रमादित्यर्थः । [8]ब्रह्मदृष्टया संश्लिष्टत्वेन च [9]संभूय च प्रयुक्ताश्चेन्नायं दोष इत्याह—किंचेति । जाग्रदिति । जाग्रत्पुरुषो [10]वैश्वानराभिन्नो विश्वस्तत्स्थानं

ओंकार की तीन मात्राओं का वैशिष्टच

अकार, उकार और मकार ऐसे ओंकार की ये तीन मात्रायें मृत्युमती हैं अर्थात् मृत्यु को पहुँच से परे न होने के कारण ये मृत्यु की विषय ही हैं। इसालिये उन्हें मृत्युमती कहते हैं, वे मात्रायें आत्मा की उपासना क्रियाओं में प्रयुक्त होती हैं और वे एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, जो विशेष रूप से एक विषय में ही प्रयुक्त हों वे विप्रयुक्ता कही जाती हैं और जो विप्रयुक्ता न हों उन्हें अविप्रयुक्ता कहते हैं

१. तिस्रो मात्रा मृत्युमत्य इति—एकैकमात्रायाः स यद्येकमात्रमभिध्यायीतेत्यादिना मृत्युमत्फलस्यैवोक्तत्वात् तिसृणामपि दिव्यभोगमात्राभिलाषेण ब्रह्मभिन्नत्वेन हिरण्यगर्भादिविषयत्वे अतोऽन्यदार्तमिति मृत्युमत्फलकत्व-स्यैवावधारणादिति भावः । यद्वाऽनात्मत्वादेव मात्राणां स्वरूपतो मृत्युमत्त्व विनाशित्वमिति ध्येयम् । २. पर-ब्रह्मविषयाः संश्लिष्टाश्च तु तानमृत्युमत्य इत्याशयेनाह—प्रयुक्ता इत्यादि । ३. अनतिक्रान्ता—अनिर्गता इत्यर्थ इति पञ्चमी । ४. ननु तिसृणामपि मात्राणां मृत्युमत्त्वे तदभिन्नोङ्कारस्यापि तथात्वापत्त्या यो यदिच्छति तस्य तत, तमोङ्कारेणैवायतनेनान्वेति विद्वान् तत्तच्छान्तमित्यादि कथमुपपाद्यतामत आह—ता आत्मन इत्यादि । अन्योन्यसक्तत्वादिरूपेणात्मध्याने विनियुक्तास्तु ता मृत्युमतिक्रान्ता एवेति भावः । ५. एकैकविषये जाग्रदा-दिरूप इत्यर्थः । ६. प्रत्येकमिति—ब्रह्मदृष्टयापीति शेषः । ७. तदुपासकानामिति—संहृत्यापीत्यादिः । ८. ब्रह्मदृष्टयेति—अनेन ता इत्यादि भाष्यं संगृहीतम् । ९. संभूय चेति—संश्लिष्टत्वेन चेत्यस्यैव टिप्पण-मिति विद्धः । १०. वैश्वानरो विराट् ।

ऋग्भिरेतं यजुर्भिरन्तरिक्षं सामभिर्यत्तत्कवयो वेदयन्ते। तमोंकारेणैवाऽऽयतनेनान्वेति विद्वान्यत्त-

साधक ऋग्वेद द्वारा इस मनुष्य उपलक्षित लोक को, यजुर्वेद द्वारा सोम से अधिष्ठित अन्तरिक्ष लोक को और सामवेद द्वारा उस तृतीय ब्रह्मलोक को प्राप्त होता है, जिसे विद्वान् लोग ही जानते हैं तथा उस ओंकार रूप आलम्बन के द्वारा ही विद्वान् उस लोक को प्राप्त होता है। जो स्थूल

किं तर्हि विशेषेणैकैकस्मिन्ध्यानकाले तिसृषु क्रियासु बाह्याभ्यन्तरमध्यमासु जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तस्थानपुरुषाभिध्यानलक्षणासु योगक्रियासु सम्यक्प्रयुक्तासु सम्यग्ध्यानकाले प्रयोजितासु न कम्पते न चलति ज्ञो योगी यथोक्तविभागज्ञ ओंकारस्येत्यर्थः। न तस्यैवंविदश्चलनमुपपद्यते। यस्माज्जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तपुरुषाः सह स्थानैर्मात्रात्रयरूपेणोंकारात्मरूपेण दृष्टाः स ह्येवं विद्वान्सर्वात्मभूत ओंकारमयः कुतो वा चलेत्कस्मिन्वा ॥६॥

सर्वार्थसंग्रहार्थो द्वितीयो मन्त्रः—

ऋग्भिरेतं लोकं मनुष्योपलक्षितम्। यजुर्भिरन्तरिक्षं सोमाधिष्ठितम्। सामभिर्य-

---

स्थूलशरीरं जागरितं च। स्वप्नपुरुषस्तु हिरण्यगर्भाभिन्नस्तैजसस्तत्स्थानं लिङ्गशरीरं स्वप्नश्च। सुषुप्तावीश्वरात्मा प्राज्ञस्तत्स्थानम[2]व्याकृतं सुषुप्तिश्च। तेषामकारादितादात्म्येन यदभिध्यानं तल्लक्षणासु योगक्रियासु प्रयुक्तास्वन्योन्यसक्ता अनविप्रयुक्तास्तिस्रो मात्राः प्रयुक्ताश्चेन्न कम्पत इत्यन्वयः। अनेन [3]सर्वात्मके परब्रह्मणीश्वर ओंकाराभेदेन ध्यानमुक्तम्। यथोक्तेति। तिस्रो मात्रा इतिश्लोकोक्तविभाग इत्यर्थः। कुतो वेति। चलनं विक्षेपः स्वस्य सर्वात्मत्वेन स्वव्यतिरिक्ताभावाच्चलनं न संभवतीति कुतो हेतोः कस्मिन्वा विषये चलेदित्यर्थः ॥६॥

एवं जो अविप्रयुक्ता भी नहीं हैं, वे अनविप्रयुक्ता कही जाती हैं।

तो फिर इस व्युत्पत्ति से क्या अर्थ सिद्ध हुआ? इस प्रकार विशेषरूप से एक ही ध्यान काल में आभ्यन्तर और मध्यम क्रियाओं में जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति के अभिमानी पुरुषों के अभिध्यानरूप योग क्रियाओं के सम्यक् प्रकार से प्रयोग किये जाने पर अर्थात् सम्यक् प्रकार से ध्यानकाल में प्रयुक्त किये जाने पर ओंकार की मात्राओं के पूर्वोक्त विभाग को जानने वाला उपासक योगी विचलित नहीं होता। इस प्रकार उस उपासक का विचलित होना सिद्ध नहीं होता है क्योंकि जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति के अभिमानी (व्यष्टि रूप से विश्व, तैजस एवं प्राज्ञ तथा समष्टि रूप से विराट्, हिरण्यगर्भ और ईश्वर ये सभी) पुरुष अपने स्थानों के सहित मात्रामय ओंकारस्वरूप से देखे जाते हैं। इस प्रकार सर्वात्मभूत ओंकार में तन्मय हुआ वह विद्वान् पुरुष क्यों और किससे विचलित होगा ॥६॥

ऋगादि वेद तथा ओंकार से प्राप्त होने वाले लोकों का वर्णन

उपर्युक्त सम्पूर्ण अर्थों का संग्रह करने के लिये यह दूसरा मन्त्र है। ऋग्वेद द्वारा मनुष्य

---

१. ननु मात्राणामनात्मत्वेन तदात्मना प्रपञ्चं पश्यतोऽनात्मवित्त्वेन चलनमावश्यकमित्याशङ्क्याऽऽह—ओङ्कारात्मरूपेणेति। ओङ्कारलक्ष्यात्मत्वेनेत्यर्थः। २. अव्याकृतमविद्याकारणदेहः। ३. सर्वात्मक इत्यादि—ओङ्कारं प्रतीकयित्वा तत्र सर्वात्मकेश्वरपरब्रह्मणोऽभेदेन चिन्तनमित्यर्थः।

च्छान्तमजरममृतमभयं परं चेति ॥७॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि पञ्चमः प्रश्नः ॥५॥

सूक्ष्म प्रपंच से रहित, अजर, अमर, अभय एवं सबसे परे है। मन्त्र में इति शब्द प्रश्न समाप्ति का द्योतक है ॥७॥

॥ इति पञ्चमः प्रश्नः ॥

---

[1]तद्ब्रह्मलोकमिति तृतीयं कवयो मेधाविनो विद्यावन्त एव नाविद्वांसो वेदयन्ते। तं त्रिविधं लोकमोंकारेण साधनेनापरब्रह्मलक्षणमन्वेत्यनुगच्छति विद्वान्। तेनैवोंकारेण यत्तत्परं ब्रह्माक्षरं सत्यं पुरुषाख्यं शान्तं विमुक्तं जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्यादिविशेषसर्वप्रपञ्चविवर्जितमत एवाजरं जरावर्जितममृतं मृत्युवर्जितमत एव यस्माज्जराविक्रियादिरहितमतोऽभयम्। यस्मादेवाभयं यस्मात्परं निरतिशयम्। तदप्योंकारेणाऽऽयतनेन गमनसाधनेनान्वेतीत्यर्थः। इतिशब्दो वाक्यपरिसमाप्त्यर्थः ॥७॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छंकरभगवतः कृतौ प्रश्नोपनिषद्भाष्ये पञ्चमः प्रश्नः ॥५॥

अपरब्रह्मप्राप्त्यर्थं य ओंकारः प्रयुक्तस्तेनैव ([2]न पृथक्प्रयुक्तः) परमपि प्राप्नोति ब्रह्मलोक उत्पन्ननिर्विशेषब्रह्मसाक्षात्कारेणोक्तस्योंकारस्य क्रममुक्तिफलत्वादित्याह—तेनैवेति। येनापरमन्वेति तेनैव परमप्यन्वेतीत्येवकारार्थ इत्यर्थः। तदप्योंकारेणेत्यायतनविशेषणार्थं पुनरोंकारग्रहणमिति न पुनरुक्तिरिति बोध्यम् ॥७॥

इत्यानन्दज्ञानावरचितप्रश्नोपनिषद्भाष्यटीकायां पञ्चमः प्रश्नः ॥५॥

उपलक्षित इस लोक को यजुर्वेद द्वारा सोम से अधिष्ठित अन्तरिक्ष लोक को और सामवेद द्वारा उस तृतीय ब्रह्म लोक को (विद्वान् प्राप्त हो जाता है) इस तृतीय ब्रह्मलोक को मेधावी विद्वान् कवि लोग ही जानते हैं, अविद्वान् नहीं। इस क्रम से ओंकाररूप साधन के द्वारा अपर ब्रह्मस्वरूप इस त्रिविध लोक को विद्वान् प्राप्त कर लेता है, अर्थात् इन्हीं तीनों का अनुगमन करता है।

उस ओंकार से ही वह उस अक्षर सत्यपुरुष नामक परब्रह्म को प्राप्त होता है जो जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि विशेष भावरूप सभी प्रपंच से रहित है। इसीलिये तो बुढ़ापा और मृत्यु से रहित है क्योंकि वह जरा आदि विकारों से रहित है। अतः अभयरूप एवं अभय होने के कारण वह निरतिशय पर है। तात्पर्य यह है कि उस परब्रह्म को भी गमन साधन ओंकाररूप आलम्बन द्वारा ही परब्रह्म का उपासक प्राप्त हो जाता है। इस मन्त्र के अन्त में इति शब्द वाक्य को परिसमाप्ति का द्योतक है ॥७॥

---

१. यत्तदिति—तृतीयभुवनमित्यन्वयः। तदर्थमाह—ब्रह्मलोकमिति। मेधाविनो वेदयन्त इत्यन्वयः। २. न पृथक्प्रयुक्त इति—तेनैवेत्यस्या टिप्पणमिदमन्यथाकृतं भाति तृतीयान्तं पाठचम्। यस्तेनेति वाऽस्याग्रे शेषो द्रष्टव्य इत्यलम्।

॥ अथ षष्ठः प्रश्नः ॥

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ। भगवन्हिरण्य-नाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत। षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्थ तमहं कुमारमब्रुवं नाहमिमं वेद यद्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति

उसके बाद उन पिप्पलाद मुनि से भारद्वाज के पुत्र सुकेशा ने पूछा—हे भगवन् ! कौशल देश के राजकुमार हिरण्यनाभ ने मेरे पास आकर इस प्रश्न को पूछा था कि हे भारद्वाज ! तुम सोलह कला वाले पुरुष को जानते हो ? मैंने उस राजकुमार से कहा—मैं इसे नहीं जानता हूँ। यदि मैं इसे

अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ, समस्तं जगत्कार्यकारणलक्षणं सह विज्ञानात्मना परस्मिन्नक्षरे सुषुप्तिकाले संप्रतिष्ठि(ष्ठ)त इत्युक्तम् । सामर्थ्यात्प्रलयेऽपि तस्मिन्नेवाक्षरे संप्रतिष्ठते जगत्तत एवोत्पद्यत इति सिद्धं भवति । [2]न ह्यकारणे कार्यस्य संप्रतिष्ठानमुपपद्यते । उक्तं च—"आत्मन एष प्राणो जायते" (प्र. ३-३) इति । जगतश्च

'गताः कलाः पञ्चदश प्रतिष्ठाः' 'कर्माणि विज्ञानमयश्च' (मु. ३-२-७)इति मन्त्रे [3]कर्मभिः सह षोडशकलानां परस्मिँल्लयमुक्त्वा 'यथा नद्यः स्यन्दमानाः' (मु. ३-२-८) इति मन्त्रेण दृष्टान्तोक्तिद्वारा परप्राप्तिरुक्ता। मन्त्रयोर्विस्तराभिधानार्थं षष्ठं प्रश्नमारभते—अथ हैनमिति । तस्य पूर्वेण [4]संगतिमुक्तार्थानुवादपूर्वकमाह—समस्तमित्यादिना । अक्षरस्य कारणत्वसिद्ध्यर्थं प्रलयेऽपि तस्मिन्नेव लयमाह—सामर्थ्यादिति । लयाधारत्वेन कारणत्वमाह—तत इति । तदुक्तेः प्रयोजनमाह—जगत इति । यद्यप्यद्वितीयात्मज्ञानान्मुक्तिर्नकारणज्ञानात्तथाऽपि तस्य कारणत्वे तद्व्यतिरेकेण कार्याभावात्तदद्वितीयत्वज्ञानं सिध्यतीति

॥ षष्ठ प्रश्न ॥

सोलह कला वाला पुरुष कौन है ।

उसके पश्चात् उन आचार्य पिप्पलाद से भारद्वाज सुकेशा ने पूछा—सुषुप्तिकाल में विज्ञानात्मा के सहित सम्पूर्ण कार्य-करणरूप संसार अक्षर परम पुरुष में लीन हो जाता है, ऐसा पहले कहा जा चुका है । इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि प्रलयकाल में भी यह जगत् उसी अक्षर में स्थित होता है और पुनः उसी से उत्पन्न होता है, क्योंकि अकारण में कार्य का लीन होना सम्भव नहीं है ।

इसके अतिरिक्त "यह प्राण आत्मा से उत्पन्न होता है" इस तृतीय प्रश्न म कहा गया है । साथ ही सम्पूर्ण उपनिषदों का निश्चित अभिप्राय भी यही है कि जो जगत् का मूल कारण है, उसके अपरोक्ष

---

१. अब्रुवमितिच्छान्दसमब्रवमितिवक्तव्ये भाष्ये तु तत्सांपातिकमित्यवधेयम् । २. उक्तं सामर्थ्यं समर्थयति—न हीत्यादिना । ३. कर्मभिः सह षोडशेति—कर्मणा सह मिलित्वा षोडशेत्यर्थः । ४. संगतिमुत्थाप्योत्थापकभावात्मिकामित्यर्थः ।

समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति तस्मा-
न्नार्हाम्यनृतं वक्तुं स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज ।
तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति ॥१॥

जानता होता तो भला सर्वगुण सम्पन्न तुझ शिष्य को क्यों नहीं बतलाता। जो पुरुष मिथ्या भाषण करता है, वह मूल के सहित सर्वथा सूख जाता है। अतः मैं तुझसे छिपाने के लिए मिथ्या भाषण नहीं कर रहा हूँ। इतना सुनने पर वह राजकुमार चुपचाप रथ में बैठ कर चला गया। (तब से मेरे हृदय में वह ज्ञातव्य रूप से काँटे के समान खटक रहा है) अतः अब मैं उसके विषय में आपसे पूछता हूँ कि वह जानने योग्य षोडशकला पुरुष कहां रहता है? ॥१॥

ऽन्मूलं तत्परिज्ञानात्परं श्रेय इति सर्वोपनिषदां निश्चितोऽर्थः। अनन्तरं चोक्तं 'स सर्वज्ञः सर्वो भवति' इति। वक्तव्यं च क्व तर्हि तदक्षरं सत्यं पुरुषाख्यं विज्ञेयमिति। तदर्थोऽयं प्रश्न आरभ्यते। वृत्तान्वाख्यानं च विज्ञानस्य दुर्लभत्वख्यापनेन तल्लब्ध्यर्थं मुमुक्षूणां यत्नविशेषोत्पादनार्थम्।

हे भगवन्! हिरण्यनाभो नामतः कोसलायां भवः कौसल्यो राजपुत्रो जातितः क्षत्त्रियो मामुपेत्योपगम्यैतमुच्यमानं प्रश्नमपृच्छत। षोडशकलं षोडशसंख्याकाः [1]कला अवयवा

तादृशात्मज्ञानात्परं श्रेय इति। 'आत्मा वा इदमेक एव' (ऐ. १-१)। 'स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत्'। (ऐ. ३-१३)। 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (ऐ. ५-३)। 'स एतेन प्राज्ञेनाऽऽत्मनाऽमृतः समभवत्', 'सदेवैकमेवाद्वितीयम्' (छा. ६-२-१) इत्युपक्रम्य'आचार्यवान्पुरुषो वेद' (छा. ६-१४-२), 'अथ संपत्स्ये, तमेवैकं जानथ'। 'अमृतस्यैष सेतुः' (मु. २-२-५), 'ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत्सर्वमभवत्' (बृ. १-४-१०)इत्यादिषु निश्चितमित्यर्थः। इहापि तादृगात्मज्ञानादेव सर्वात्मभावः श्रेय उक्त इत्याह—अनन्तरमिति। वृत्तमनूद्य वर्तिष्यमाणमाह—वक्तव्यमिति। तदर्थोऽयमिति। तस्य शरीरान्तस्थत्वोक्तिद्वारा तस्य प्रत्यगात्मत्वज्ञानार्थमित्यर्थः।

प्रश्नमिति। **प्रष्टव्यमित्यर्थः**। अज्ञाने कारणमिति। **अज्ञानसंभावनायां कारणमित्यर्थः**।

ज्ञान से ही परम कल्याण हो सकता है। अभी चौथे प्रश्न के उत्तर मे यह भी कहा जा चुका है 'वह सर्वज्ञ और सर्वात्म हो जाता है'। अतः अब यह बतलाना आवश्यक है कि उस पुरुष नामक सत्य अक्षर को कहां जाना जाय। बस इसलिये यह प्रश्न प्रारम्भ किया जाता है। आख्यान उल्लेख का तात्पर्य यह है कि विज्ञान की दुर्लभता बतलाने से मुमुक्षु लोग उसकी प्राप्ति के लिये विशेष प्रयत्न करेंगे।

हे भगवन्! कोशलपुरी में उत्पन्न हुआ हिरण्यनाभ नामक जातितः क्षत्रिय राजपुत्र ने मेरे पास आकर आगे कहा जाने वाला प्रश्न पूछा कि हे भारद्वाज! जैसे शरीर में अवयव होते हैं, वैसे ही

---

१. कला अवयवा इवेति—कला तु षोडशो भाग इति प्राणादीनां प्रत्येकं स्वेतरापेक्षया षोडशत्वात्कलात्वमित्यपि द्रष्टव्यम्।

इवाऽऽत्मन्यविद्याध्यारोपितरूपा यस्मिन्पुरुषे सोऽयं षोडशकलस्तं षोडशकलं हे भारद्वाज! पुरुषं वेत्थ विजानासि। तमहं राजपुत्रं कुमारं पृष्टवन्तमब्रुवमुक्तवानस्मि नाहमिमं वेद यं त्वं पृच्छसीति। एवमुक्तवत्यपि मय्यज्ञानमसंभावयन्तं तमज्ञाने कारणमवादिषम्। यदि कथंचिदहमिमं त्वया पृष्टं पुरुषमवेदिषं विदितवान[1]स्मि कथमत्यन्तशिष्यगुणवतेऽर्थिने ते तुभ्यं नावक्ष्यं नोक्तवानस्मि न ब्रूयामित्यर्थः। भूयोऽप्यप्रत्ययमिवाऽऽलक्ष्य प्रत्याययितुमब्रुवम्। समूलः सह मूलेन वा एषोऽन्यथा सन्तमात्मानमन्यथा कुर्वन्ननृतमयथाभूतार्थमभिवदति यः स परिशुष्यति शोषमुपैती[2]हलोकपरलोकाभ्यां विच्छिद्यते विनश्यति। यत एवं जाने तस्मान्नार्हाम्यहमनृतं वक्तुं[3]मूढवत्। स राजपुत्र एवं प्रत्यायितस्तूष्णीं[4]व्रीडितो रथमारुह्य प्रवव्राज प्रगतवान्यथागतमेव। अतो न्यायत उपसन्नाय योग्याय जानता विद्या वक्तव्यैवानृतं च न वक्तव्यं सर्वास्वप्यवस्थास्वित्येतत्सिद्धं भवति। तं पुरुषं त्वा त्वां पृच्छामि मम हृदि विज्ञेयत्वेन [5]शल्यमिव स्थितं क्वासौ वर्तते विज्ञेयः पुरुष इति ॥१॥

अप्रत्ययमिति—अविश्वासमित्यर्थः। अन्यथा सन्तमिति। ज्ञानिनं सन्तमन्यथा कुर्वन्नज्ञानिनं कुर्वन्नारोपयन्नित्यर्थः। कथं ते नावक्ष्यमित्यनेन [6]सूचितमर्थमाह—अत इति। समूलो वा इत्यनेन [7]सूचितमाह—अनृतं चेति। स्वरूपेण शल्यत्वाभावादाह—विज्ञेयत्वेनेति। यावज्जिज्ञासितं न ज्ञायते तावत्तद्धृदि शल्यवद्भासत इति शल्यमिवेत्युक्तम् ॥१॥

जिस पुरुष में सोलह कलायें आरोपित की गयी हैं। इसीलिये षोडश कल (सोलह कला वाला) पुरुष कहते हैं। ऐसे उस सोलह कलाओं वाले पुरुष को क्या तू जानता है? इस प्रकार पूछने वाले उस राजकुमार से मैंने कहा कि जिसके विषय में तुम पूछते हो, उसे मैं नहीं जानता; ऐसा कहने पर भी मुझ में अज्ञान की असम्भावना मानने वाले उस राजकुमार को मैंने अपने अज्ञान का कारण बतलाया। यदि तेरे पूछे हुये इस पुरुष को कथञ्चित् मैं जानता होता तो भला अत्यन्त शिष्यगुण सम्पन्न तुझ प्रार्थी को मैं क्यों नहीं बतलाता, फिर भी उसे अविश्वस्त-सा देख विश्वास दिलाने के लिये मैंने कहा—जो पुरुष अपने आपको अन्यथा करता है अर्थात् मिथ्या भाषण करता है, वह मूल के सहित सूख जाता है यानी इस लोक और परलोक दोनों से विनष्ट हो जाता है, जबकि मैं इस बात को जानता हूँ; अतः मूर्खों के समान मैं झूठ नहीं बोल सकता। इस प्रकार विश्वास दिलाने पर वह राजकुमार लज्जित हो चुपचाप रथ में बैठकर वहाँ ही चला गया, जहाँ से वह आया था। इससे यह सिद्ध होता है कि नियमपूर्वक अपने समीप आये हुये योग्य जिज्ञासु के प्रति ज्ञानी पुरुष को विद्या का उपदेश करना ही चाहिये और सभी अवस्थाओं में झूठ नहीं बोलना चाहिये। (सुकेशा ने

---

१. अस्मि भवेयमित्यर्थः। २. इहलोकपरलोकेत्यादि—इहलोको मनुष्यलोकस्तस्मादुत्कृष्टस्तु देवादिदेहरूपः परलोकस्तत्प्राप्तिमूलस्य पुण्यकर्मणोऽसत्येन प्रणाशात्ताभ्यां वञ्चितोऽधोगतिं यातीत्यर्थः। ३. मूढवदिति—श्रुतिसिद्धान्तमजानन्मूढो यथाऽनृतं वक्ति तद्वदित्यर्थः। ४. व्रीडित इति—अस्थाने कृतश्रमत्वादमुष्य व्रीडेति गम्यते। ५. शल्यमिति—वा पुंसि शल्यं शङ्कुर्ना इत्यमरः। बाणाग्रं शल्यम्। ६. सूचितमिति—विधिरूपमिति। ७. सूचितमिति—निषेधमिति।

तस्मै स होवाच। इहैवान्तःशरीरे सोम्य स पुरुषो यस्मिन्नेताः षोडश कलाः प्रभवन्तीति ॥२॥

उस सुकेशा से आचार्य पिप्पलाद ने कहा—हे सोम्य ! जिस पुरुष में (आगे बताये जाने वाले) इन षोडश कलाओं का प्रादुर्भाव हुआ है, वह पुरुष इस शरीर के भीतर रहता है। (वह पुरुष कलाहीन होते हुए भी इन उपाधिभूत सोलह कलाओं के कारण कलावान् सा दीखता है। अब विद्या से अविद्या की निवृत्ति करके उसके शुद्ध रूप को दिखलाना है। इसलिए प्राणादि कलाओं का उसी से उत्पन्न होना कहा गया है) ॥२॥

तस्मै स होवाच। इहैवान्तशरीरे हृदयपुण्डरीकाकाशमध्ये हे सोम्य ! स पुरुषो न देशान्तरे विज्ञेयो यस्मिन्नेता [1]उच्यमानाः षोडश कलाः प्राणाद्याः प्रभवन्त्युत्पद्यन्त इति [3]षोडशकलाभिरुपाधिभूताभिः सकल इव निष्कलः पुरुषो लक्ष्यतेऽविद्ययेति तदुपाधिकला-[4]ध्यारोपापनयेन विद्यया स पुरुषः केवलो [5]दर्शयितव्य इति कलानां तत्प्रभवत्वमुच्यते। प्राणादीनामत्यन्तनिर्विशेषे ह्यद्वये शुद्धे तत्त्वे [6]न शक्योऽध्यारोपमन्तरेण प्रतिपाद्यप्रति-

---

पुरुषस्य षोडशलत्वं न [7]साक्षात्सावयवत्वेन किंतु [8]कलाजनकत्वेन तदुपाधिमत्त्वादिति वक्तुं यस्मिन्नेता इति वाक्यमिति तत्तात्पर्यमाह—षोडशकलाभिरिति। ननु केवल आत्मा प्रदर्श्यतां किं वक्ष्यमाणकलोक्त्येत्यत आह—तदुपाधीति। [9]तथैव स प्रदर्शनीय इत्यत्र हेतुमाह—अत्यन्तेति। अविद्या-

---

कहा हे भगवन् !) मेरे हृदय में ज्ञातव्यरूप से काँटे के समान चुभे हुये उस प्रश्न के विषय में मैं आपसे विनम्रतापूर्वक पूछता हूँ कि वह विज्ञेय षोडशकल पुरुष कहाँ रहता है ॥१॥

षोडशकल पुरुष शरीर में रहता है

उस सुकेशा से उस आचार्य पिप्पलाद ने कहा कि हे प्रियदर्शन ! इसी शरीर के भीतर हृदय-पुण्डरीकाकाश के मध्य में वह पुरुष जानने योग्य है; किसी अन्य स्थान में नहीं। जिसमें इन आगे बतलाये जाने वाली सोलह कलायें उत्पन्न होती हैं, उन उपाधिरूप सोलह कलाओं के कारण अविद्यावश कला वाला-सा प्रतीत होता है। वस्तुतः उसमें कोई कला नहीं, विद्या द्वारा उन औपाधिक कलाओं के अध्यारोप की निवृत्ति से उस पुरुष को विशुद्धरूप में दिखलाना है। इसीलिये प्राणादि कलाओं को उसी से उत्पन्न होना बतलाया गया है क्योंकि अत्यन्त निर्विशेष, अद्वय और विशुद्ध तत्त्व में अध्यारोप

---

१. नन्विहैव शरीरे चेन्न, कुतोऽवलोक्यते शरीरेऽप्यवस्थितं लोमादि लोक्यतेऽत आह—अन्तरिति। तद्व्याचष्टे—हृदयेत्यादिना। २. उच्यमानाः—स प्राणमसृजतेत्यादिना (प्र. उ. ६-४.) मन्त्रे वक्ष्यमाणाः। ३. इमाः षोडश कलाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति, स एषोऽकलोऽमृत इत्याद्युपसंहारमनुसरन्नाह—षोडशकलाभिरित्यादि। ४. अध्यारोपापनयेनेति—अध्यारोपापवादाभ्यां जनितयेति यावत्। ५. दर्शयितव्य इति—'स यथेमा नद्यः' इत्यादिना वक्ष्यमाणेनेति भावः। ६. न शक्य इत्यादि—नीलमेव ह्यारोप्याकाशमुपदिश्यते बालेभ्य इति भावः। ७. साक्षादिति—उपाधिमन्तरेति यावत्। ८. कलाजनकत्वेनेति—श्रोत्रजनकत्वेनाकाशस्य नानात्ववत्। घटादिजनकत्वेन वेति ध्येयम्। ९. तथैवेति—अध्यारोपापवादाभ्यामित्यर्थः।

पादनादिव्यवहारः कर्तुमिति कलानां प्रभवस्थित्यप्यया आरोप्यन्ते[1]ऽविद्याविषयाश्चैतन्या-व्यतिरेकेणैव हि कला जायमानास्तिष्ठन्त्यः प्रलीयमानाश्च [2]सर्वदा [3]लक्ष्यन्ते। अत एव भ्रान्ताः केचिदग्निसंयोगाद्घृतमिव घटाद्याकारेण चैतन्यमेव प्रतिक्षणं जायते नश्यतीति। तन्निरोधे शून्यमिव सर्वमित्य[4]परे। घटादिविषयं चैतन्यं चेतयितुर्नित्यस्याऽऽत्मनोऽनित्यं जायते विनश्यतीत्य[5]परे। चैतन्यं भूतधर्म इति लौकायतिकाः।

[6]अनपायोपजनधर्मकचैतन्यमात्मैव नामरूपाद्यु[7]पाधिधर्मैः प्रत्यवभासते। "सत्यं ज्ञान-

---

विषया इति। अविद्याधीना इत्यर्थः। [8]कालत्रयेऽपि तासां चैतन्यरूपाधिष्ठानाव्यतिरेकाद्रज्जुसर्पव-न्मृषात्वमित्यविद्याविषयत्वं साधयति—चैतन्येति। चैतन्याव्यतिरेकेण लक्ष्यमाणत्वं [9]हेतुं विज्ञानवादि-भ्रान्त्या दृढीकरोति—अत एवेति। घृतं यथाऽग्निसंयोगाद्द्रवावस्थां प्रतिपद्यत एवमहमाकारमालय-विज्ञानमेव वासनावशाद्विषयाकारेण जायत इति वदतां तेषां भ्रमो विषयस्य चैतन्याव्यतिरेके [10]प्रत्ययं गमयति, अन्यथा तथाभ्रमानुपपत्तेरित्यर्थः। विषयाणां चैतन्याव्यतिरेकेण प्रतीतिनियमादेव [11]विषय-विज्ञानरूपेण चैतन्याभावे [12]सुषुप्त्यादौ शून्यभ्रमो जातः केषांचिदिति तदीयभ्रान्त्याऽपि चैतन्याव्यतिरिक्त-प्रतीतिं दृढीकरोति—तन्निरोध इति। चैतन्यस्यानित्यस्य कलारोपाधिष्ठानत्वं न संभवति कलाकार्य-त्वादिति नैयायिकपक्षोक्तिव्याजेन शङ्कते—घटादीति। भूतधर्म इति। [13]देहाकारेण संहतभूतधर्म इत्यर्थः।

चैतन्यस्याऽऽरोपाधिष्ठानत्वसिद्ध्यर्थं नित्यत्वमेकत्वं च वदंस्तान्निराकरोति—अनपायेति। प्रत्यवभासत इति। नानात्वेन कार्यत्वेन चेति शेषः। सत्यं ज्ञानमिति। तथा च श्रुतिविरोधात्ते पक्षा

के बिना प्रतिपाद्य-प्रतिपादनादि व्यवहार नहीं कर सकता। अतः उसी निष्कल तत्व में कलाओं की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय अविद्या विषयक आरोपित हैं, क्योंकि ये कलायें चैतन्य ब्रह्म से अभिन्न रहकर ही सदा उत्पन्न, स्थिति और लीन होती देखी जाती हैं। अतएव कुछ भ्रान्त पुरुषों का यह भी मत है कि अग्नि संयोग से घृत का काठिन्य जैसे नष्ट हो जाता है, उसी प्रकार चैतन्य ही प्रत्येक क्षण में घटादि आकारों में उत्पन्न होता और नष्ट होता है। इनसे भिन्न दूसरे शून्यवादियों का मत है कि इनका निरोध हो जाने पर सब कुछ शून्य सा हो जाता है। वैसे ही अन्य तार्किकों का कहना है कि

---

१. कथमारोप्यन्त इति न किमिति तथ्याः स्युरत आह—अविद्याविषया इति। ननु न तथाविध प्रमाणं गोचरयति रूप्याद्यत्र तु प्रमाण यस्मिन्नेता इतीतीदमनुपपन्नमित्याशङ्क्य कृतार्थयति—चैतन्येत्या-दिना। २. सर्वदेति—सुषुप्तिजागरयोरिति यावत्। ३. लक्ष्यन्त इति—स एषोऽकल इत्यादि परमार्थ-प्रमाणानुरुद्धमिदमनथात्वेऽपि तथा प्रतीतिमात्रं व्यवहारकालीनमालिङ्ग्य निर्वाति प्रमाणमिति भावः। ४. अपरे—आत्मोच्छेदं मोक्षमालिङ्गन्तो बौद्धाः। ५. अपरे नैयायिकास्तेषां च विषयचैतन्यसाहचर्यमात्र-मविविक्तं भ्रामकमिति भावः। ६. एवं वादिनां तत्तद्भ्रमान्यथाऽनुपपत्त्या साधित चैतन्याव्यतिरेकमेव कलानामालम्ब्य यस्मिन्नेताः षोडश कला इत्यारोपमात्र श्रुतेरवान्तरतात्पर्येणेत्यावेद्यमुख्यतात्पर्यविषयं निष्कलं पुरुषमावेदयितुकामो भगवान् भाष्यकारो वादिनां तत्तद्भ्रमापनोदनेनोपचिकीर्षन् विचारमारभमाणः श्रौतं राद्धान्तमुपस्थापयति—अनपायेत्यादिना। ७. उपाधिधर्मैरुपलक्षित इति भावः। ८. कालत्रये—उत्पत्त्या-दिकाल इत्यर्थः। ९. हेतुं मृषात्वे। १०. प्रत्ययं प्रतीतिम्। ११. चैतन्यस्य स्वरूपतः कदाऽप्यसत्त्वा-सम्भवादाह—विषयविज्ञानरूपेणेति। यद्यपि तथानदभावो विषयाभावात्तथापि चैतन्यप्रतीतिस्तेषां विषयाधी-नेत्येवमप्यव्यतिरेकोपपत्तिरित्यवधेयम्। १२. सुषुप्त्यादाविति मुक्तिरादिशब्दार्थः। सैव चात्र वक्तव्यासीत्तत्र स्वरूपेणापि चैतन्यव्यतिरेकस्य तैरास्थेयत्वादिति ध्येयम्। १३. देहाकारेणेत्यादि—तथाविधभूतसाहचर्यमेव चैतन्यस्य तथात्वभ्रमे तेषां निबन्धनमिति भावः।

म[1]नन्तं ब्रह्म" (तै.उ. २-१)। "प्रज्ञानं ब्रह्म" (ऐ. उ. ३-३)। "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ. ३-९-२८) "विज्ञानघन एव" (बृ. २-४-२) [2]इत्यादिश्रुतिभ्यः। स्वरूपव्यभिचारिषु पदार्थेषु चैतन्यस्याव्यभिचारा[3]द्यथा यथा यो यः पदार्थो विज्ञायते तथा तथा ज्ञायमानत्वादेव [4]तस्य तस्य चैतन्यस्याव्यभिचारित्वं वस्तु च भवति किंचिन्न ज्ञायत इति चानुपपन्नम्।

हेया इत्यर्थः। किच ज्ञानकाले विषयाणां सद्भावनियमाभावाद्विषयकाले च ज्ञानस्य सद्भावनियमात्तयोर्भेद इति विज्ञानवादिपक्षं निराकुर्वन्न[5]व्यभिचारादेव ज्ञानस्य नित्यत्वं साधयन्नैयायिकादिपक्षमपि निराकरोति—स्वरूपेति। [6]घटज्ञानकाले पटाभावसंभवाद्विषयाणां [7]ज्ञानव्यभिचारित्वं, ज्ञानस्य तु विषयकालेऽवश्यंभावनियमादव्यभिचारित्वमित्यर्थः। पटकाले घटज्ञानमपि नास्तीति घटज्ञानस्यापि पटविषयव्यभिचारित्वं तुल्यमित्याशङ्क्य स्वरूपेत्युक्तम्। ज्ञानस्य विषयविशिष्टत्वरूपेणैव व्यभिचारः। विषयस्य तु स्वरूपेणैवेति विशेष इत्यर्थः। ज्ञानस्याव्यभिचारित्वमुपपादयति—यथा यथेति। ननू[8]त्पन्नविनष्टादेर्मेरुगुहान्तर्वर्तिनश्चाज्ञायमानत्वाज्[9]ज्ञानस्यापि ज्ञेयाव्यभिचारोऽसिद्ध इत्याशङ्क्य तस्याज्ञाने तत्सद्भावासिद्धेस्तथाभूतपदार्थोऽसिद्ध इत्याह—वस्तु चेति।

चैतन्य गुण वाले नित्य आत्मा की घटादि विषयक अनित्य चेतनता उत्पन्न होती और नष्ट होता है एवं देहात्मवादी लौकायतिकों का कहना है कि चेतनता भूतों का धम है।

परन्तु "सत्य ज्ञान और अनन्तरूप ब्रह्म है", "ब्रह्म तो ज्ञानस्वरूप है", "विज्ञानघन ही आत्मा है" इत्यादि श्रुतियों से उत्पत्ति नाशरूप धर्म से रहित चेतन ही आत्मा सिद्ध होता है। वही नामरूपादि और औपाधिक धर्मों से युक्त-सा भासता है। अपने स्वरूप से बदलने वाले पदार्थों में चैतन्य का परिवर्तन न होने के कारण जो पदार्थ जैसा-जैसा जाना जाता है, उस-उस प्रकार से उसके जानने के कारण ही उस-उस पदार्थ के चैतन्य का अव्यभिचार सिद्ध होता है (क्योंकि परिवर्तनशील पदार्थों के भीतर नित्य अपरिवर्तनशील चैतन्य न माना जाय तो भला पदार्थ एवं उनके परिवर्तनशील स्वभाव को कौन प्रकाश कर सकेगा। अतः नित्य चैतन्यघन ही आत्मा है) ऐसा मानने पर पूर्वोक्त क्षणिक विज्ञानवाद, शून्यवाद, अनित्य गुणविशिष्ट नित्य आत्मवाद और देहात्मवाद इत्यादि मतों का संक्षेपतः निराकरण हो गया।

---

१. अनन्तमिति—देशादिपरिच्छेदशून्यमित्यर्थः। तत्त्वं च कलानां तात्त्विकत्वे व्याहन्येतेति भावः। २. इत्यादीत्यादिना—उपाधिधर्मानुकारार्थं ध्यायतीवेत्यादिश्रुतिसंग्रहः। ३. ननु शुक्तिसत्त्वेऽपि न तज्ज्ञानमिति तदपि व्यभिचरत्येव विषयमित्याशङ्क्याऽऽह—यथा यथेत्यादि। रूप्यत्वेनैव तदानीमस्ति तज्ज्ञानमिति भाव.। ४. तस्य तस्य चैतन्यस्येति—तत्तत्प्रकारकतत्तद्विशेष्यकज्ञानस्येत्यर्थः। ५. अव्यभिचारादिति—सदा सत्त्वादित्यर्थः। ६. घटज्ञानकाले पटाभावसंभवादिति—अत्र लिखितादिसर्वपुस्तकेषु घटाभावसभवादित्येव पाठ उपलभ्यते। स च भ्रमात्मकं स्मृत्यात्मकं वा घटज्ञानमादाय, घटाभावस्य नित्यत्वमते न चाक्षुषप्रमात्मकमपि वा तदादाय शक्यो नेतुं, परं पटकाले घटज्ञानमपि नास्तीत्यादि वक्ष्यमाणवाक्यस्वारस्यमनुसधाय पटाभावसंभवादित्येतमेव पाठं पाठ्यं पश्यामः। ७. ज्ञानव्यभिचारित्वमिति—ज्ञानकालीनाभावप्रतियोगित्वमित्यर्थः। अभावोऽत्यन्ताभावः। ८. उत्पन्नविनिष्टेति—उत्पत्तिक्षणाव्यवहितोत्तरक्षणीयनाशप्रतियोगीत्यर्थः। क्षणीयेति क्षणवर्तीत्यर्थः। ९. ज्ञानस्यापीत्यादि—नैयायिकशङ्का तथा च ज्ञानज्ञेययोर्भेदेऽपि ज्ञानस्य नित्यत्वं न स्यादिति भावः।

[1]रूपं च दृश्यते न चास्ति चक्षुरिति यथा। व्यभिचरति तु ज्ञेयं ज्ञानं, न व्यभिचरति कदाचिदपि ज्ञेयम्। ज्ञेयाभावेऽपि ज्ञेयान्तरे भावाज्ज्ञानस्य। न हि ज्ञानेऽसति ज्ञेयं नाम भवति कस्यचित्। सुषुप्तेऽदर्शनाज्ज्ञानस्यापि सुषुप्तेऽभावाज्ज्ञेयवज्ज्ञानस्वरूपस्य व्यभिचार इति चेन्न। ज्ञेयावभासकस्य ज्ञानस्याऽऽलोकवज्ज्ञेयाभिव्यञ्जकत्वात्[2]स्वव्यङ्ग्याभाव [3]आलोकाभावानुपपत्तिवत्सुषुप्ते विज्ञानाभावानुपपत्तेः।

[4]न ह्यन्धकारे चक्षुषा रूपानुपलब्धौ चक्षुषोऽभावः शक्यः कल्पयितुं [5]वैनाशिकेन।

अनुपपत्तिमेव दृष्टान्तेन स्फुटीकरोति—रूपं चेति। ज्ञेयस्य ज्ञानव्यभिचारित्वं ज्ञानकाले सत्त्वनियमाभावरूपं स्पष्टमित्याह—व्यभिचरति त्विति। घटज्ञानकाले कदाचिद्[6]घटाभावादित्यर्थः। पटकाले घटज्ञानस्यापि व्यभिचारस्तुल्य इत्याशङ्क्य विशिष्टरूपेण व्यभिचारेऽपि स्वरूपेणाव्यभिचारं पूर्ववत्सूचितमाह—न व्यभिचरतीति। ज्ञानमित्यस्येहाप्यनुषङ्गः। पूर्ववाक्ये द्वितीयान्तमिह तु प्रथमान्तमिति विशेषः। भावादिति। स्वरूपेणेत्यर्थः। ज्ञानस्य स्वरूपेण सत्तामेव ज्ञेयान्तरस्य ज्ञेयत्वादेव साधयति—न हीति। स्वरूपेणाप्यभावं शङ्कते—सुषुप्त इति। किं तदानीं ज्ञेयाभावेन ज्ञानाभावः साध्यत उत ज्ञानस्यादर्शनाद्वाऽऽद्येऽपि ज्ञेयस्य व्यङ्ग्यत्वा[7]त्तदभावाद्व्यञ्जकाभाव इति वोत तयोरैक्यादेकाभावे इतराभाव इति। नाऽऽद्यो, व्यभिचारादित्याह—न ज्ञेयेति।

[8]व्यङ्ग्यज्ञानैककल्प्यस्य [9]व्यङ्ग्याभावेऽभाव उच्यत [10]आलोकस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वान्नैवमिति [11]ज्ञानानुमेयत्ववादिनं प्रति दृष्टान्तान्तरमाह—न हीति। वैनाशिकमते विज्ञानव्यतिरिक्तालोकाद्य-

---

कोई वस्तु तत्त्व अवश्य है किन्तु जाना नहीं जाता, ऐसा कहना वैसे ही असंगत है कि रूप दीखता तो है पर नेत्र नहीं हैं, इस कथन के समान है। ज्ञेय वस्तु बदली जाती है किन्तु ज्ञान कभी भी नहीं बदलता क्योंकि एक ज्ञेय के हटने पर दूसरे ज्ञेय वस्तु में ज्ञान का सद्भाव बना ही रहता है। ज्ञान

---

१. रूपं चेत्यादि—चक्षुर्विना रूपं दृश्यत इतिवज्ज्ञानं बिना वस्तु भवतीति न शक्य वक्तुमिति भावः। २. स्वव्यङ्ग्याभाव इत्यादि—तत्तद्व्यङ्ग्यसत्त्वेऽपि तत्तद्व्यङ्ग्याभावाच्चालनीयन्यायेन घटादिव्यङ्ग्यसामान्याभावेऽपि नालोकाभावोपपत्तिरिति भावः। ३. आलोकाभावानुपपत्तीति—ननु तदानीमभावस्यैव व्यङ्ग्यत्वादालोकोपपत्तिरिति चेत्तुल्यमत्रापीति न सुषुप्ते ज्ञानाभाव इति भावः। ४. न ह्यन्धकार इत्यादि—रूपोपलब्धिः सकरणिका कार्यत्वाद् घटादिवदिति कल्पकस्यापि सतो व्यङ्ग्यस्य रूपस्यान्धकारे ज्ञातत्वविशिष्टस्याभावेऽपि व्यञ्जकस्य चक्षुषोऽभावाऽनुपगमादेव तत्र व्यभिचार इति भावः। सहकारिसमवधानाभावस्य सुषुप्तेऽपि तुल्यत्वात्सहकारिसत्त्वेऽपीति हेतौ निवेशेऽपि नोद्धार इत्यवधेयम्। ५. वैनाशिकेनेति—क्षणभङ्गुरवादी बौद्धो हि प्रतिक्षणं सर्वस्य विनाशं मन्यत इत्यसौ वैनाशिकः। ६. घटाभावादिति—अत्रापि पटाभावादित्येव पाठ्यम्। ७. तदभावाद्व्यञ्जकाभाव इति—अत्रायं प्रयोगः सुषुप्तो व्यञ्जकाभाववान् व्यङ्ग्याभाववत्त्वाद्व्यतिरेकेण जाग्रद्वदिति। ८. व्यङ्ग्यज्ञानैककल्पस्य—ज्ञातो घट इत्याकारकज्ञातत्वप्रकारकज्ञानमात्रानुमेयस्य व्यञ्जकस्य घटनिष्ठज्ञातत्वप्रयोजकस्य=अयं घट इत्याकारक ज्ञानस्य। ९. व्यङ्ग्याभावे—ज्ञातो घट इति ज्ञानाभावेन ज्ञातत्वविशिष्टघटाभावे—अभाव उच्यते। १०. आलोकस्य प्रत्यक्षसिद्धत्वान्नैवमिति, तथा चोक्तानुमाने कल्पकव्यङ्ग्याभावस्यैव हेतुत्वविवक्षणान्नव्यभिचार इति भावः। ११. ज्ञानानुमेयत्वेति—घटादिगतं विजातीयप्रकाशितत्व विजातीयप्रकाशसापेक्षं प्रकाशितत्वत्वाद्, आलोकनिरूपितप्रकाशितत्ववदिति ज्ञानस्यानुमेयत्वम्।

[1]वैनाशिको ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावं कल्पयत्येवेति चेद्येन तदभावं कल्पयेत्तस्याभावः केन कल्प्यत इति वक्तव्यं वैनाशिकेन ।

तदभावस्यापि ज्ञेयत्वाज्ज्ञानाभावे तदनुपपत्तेः । ज्ञानस्य ज्ञेयाव्यतिरिक्तत्वाज्ज्ञेयाभावे ज्ञानाभाव इति चेन्न । अभावस्यापि ज्ञेयत्वाभ्युपगमादभावोऽपि ज्ञेयोऽभ्युपगम्यते

भावान्न [2]तत्र व्यभिचार इति शङ्कते—वैनाशिक इति । कल्पयत्येवेति । उक्तव्यभिचारस्थलाभावेन व्यभिचाराभावादित्यर्थः । एवमपि ज्ञानाभावकल्पकस्य ज्ञेयाभावस्य ज्ञानमङ्गीक्रियते न वा, आद्ये न ज्ञानाभावसिद्धिस्तस्यैवाभावज्ञानस्य सत्त्वादित्याह—येनेति । येन ज्ञेयाभावज्ञानेन तदभावं ज्ञानाभावं कल्पयेत्तस्य ज्ञानस्याभावः केन कल्प्यते ? न केनापि कल्पयितुं शक्य इत्यर्थः ।

न द्वितीय इत्याह—तदभावस्यापीति । ज्ञेयाभावस्याप्यज्ञातस्य ज्ञानाभावकल्पकत्वासंभवानवश्यं ज्ञेयत्वात्तज्ज्ञानाभावे तदनुपपत्तेः कल्पनानुपपत्तेर्ज्ञानानङ्गीकारपक्षो न युक्त इत्यर्थः । आद्यकोटौ द्वितीयकल्पं शङ्कते—ज्ञेयेति । वैनाशिकमतेऽप्यभावस्य ज्ञेयत्वाभ्युपगमाद्[3]बुद्धिबोध्यं त्रयादन्यत्संस्कृतं क्षणिकं च तदिति [4]प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्या(?)निरोधाकाशरूपत्रयव्यतिरिक्तस्यैव क्षणिकत्वेन निरोधशब्दितस्याभावस्य नित्यत्वाङ्गीकारेण तदभिन्नस्य ज्ञानस्यापि सुषुप्ते सत्त्वं नित्यत्वं च प्राप्तमित्याह—न । अभावस्येति । ज्ञानस्याभावाभिन्नत्वेनाभावत्वमेव स्यान्न[5] तु भावत्वेन सत्त्वं नित्यत्वं च स्यादित्या-

---

के न रहने पर तो ज्ञेय का सिद्धि हो ही नहीं सकती, जैसा कि सुषुप्ति में उनका अभाव देखा ही जाता है ।

मध्यस्थ :—यदि सुषुप्ति में ज्ञान का भी अभाव हो जाने से ज्ञेय के समान ज्ञान के स्वरूप का भी व्यभिचार माना जाय ?

सिद्धान्ती :—तो ऐसा कहना ठीक नहीं । आलोक के समान ज्ञेय वस्तु का अभिव्यञ्जक उस ज्ञेय के प्रकाशक ज्ञान ही तो है । अतः जैसे प्रकाश्य वस्तु के अभाव में प्रकाश का अभाव मानना असंगत है, वैसे ही सुषुप्तिकाल में वस्तुओं की प्रतीति न होने से विज्ञान का भी अभाव मान लेना असंगत ही होगा । अन्धकार में रूप की उपलब्धि न होने पर क्षणिक विज्ञानवादी भी नेत्र के अभाव की कल्पना नहीं कर सकता ।

मध्यस्थ :—ज्ञेय के अभाव में ज्ञान के अभाव की कल्पना क्षणिक विज्ञानवादी करता ही है ।

सिद्धान्ती :—उस वैनाशिक को कहना पड़ेगा कि जिस ज्ञान से ज्ञेय के अभाव की कल्पना करेगा, उस ज्ञान के अभाव का कल्पना किससे करेगा ? क्योंकि वह ज्ञानाभाव भी ज्ञेयरूप है । अतः उस ज्ञानाभाव ज्ञेय को ज्ञान के बिना सिद्ध नहीं कर सकते ।

मध्यस्थः—यदि ज्ञेय से अभिन्न ज्ञान मानकर ज्ञेय के अभाव में ज्ञान का भी अभाव माना जाय तो ?

---

१. वैनाशिकमते चक्षुषो ज्ञानाभिन्नत्वात्तदभावोऽप्यन्धकारे ज्ञेयाभावादुपगन्तुं शक्य एवेत्याशयेनाह—वैनाशिक इत्यादि । २. तत्रेति—आलोकेऽन्धकारे चेत्यर्थः । ३. उक्तार्थे वैनाशिकवाक्यं प्रमाणयति—बुद्धिबोध्यमित्यादि । सस्कृतम्—उत्पाद्यम् । बुद्धिबोध्यं प्रमेयमात्रं त्रयात्तुच्छरूपादन्यत् । क्षणिक चेत्यर्थः । ४. त्रयमाह प्रतीत्यादिना । तत्र बुद्धिपूर्वको नाशः प्रतिसंख्यानिरोधः स्वरसभङ्गुराणां स्तम्भादीनां स्वतो नाशोऽप्रतिसंख्यानिरोधः । आवरणाभावश्चाकाशमित्यभावत्रयम् । अभावश्च तन्मते तुच्छ इति ध्येयम्, स्पष्टं चैतत् । 'प्रतिसंख्याऽप्रतिसंख्यानिरोधाप्राप्तिरविच्छेदात्' (ब्र. सू. २-२-२२) इति सूत्रे भाष्यटीकादौ । ५. न तु भावत्वेनेत्यादि—अभावत्वेन रूपेण सत्त्वे नित्यत्वे न सत्यपीति भावः । तथा चाभाव एव तथा न ज्ञानमिति हृदयम् ।

वैनाशिकैर्नित्यश्च तदव्यतिरिक्तं चेज्ज्ञानं नित्यं कल्पितं स्या[१]त्तदभावस्य च ज्ञानात्मकत्वादभावत्वं वाङ्मात्रमेव न परमार्थतोऽभावत्वमनित्यत्वं च ज्ञानस्य । न च नित्यस्य ज्ञानस्याभावनाममात्राध्यारोपे [२]किंचिन्नश्छिन्नम् ।

अथाभावो ज्ञेयोऽपि सञ्ज्ञानव्यतिरिक्त इति चेन्न, तर्हि ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावः । ज्ञेयं ज्ञानव्यतिरिक्तं न तु ज्ञानं ज्ञेयव्यतिरिक्तमिति चेन्न । शब्दमात्रत्वाद्वि[३]शेषानुपपत्तेः ।

शङ्क्याभावस्यापि ज्ञानाभिन्नत्वेऽभावत्वमेव न स्यादित्याह—तदभावस्येति । अनित्यत्वं च ज्ञानस्येति वाङ्मात्रमेव स्यादित्यनुषङ्गः । वाङ्मात्रेणाप्यभावस्याभावत्वेन ज्ञानानित्यत्वेन चास्मत्सिद्धान्तसिद्धिरित्याशङ्क्य नाममात्रण तेन वास्तवनित्यत्वादिविरोधाभावान्नास्माकं क्षतिरित्याह—न चेति । अभावनामेति । अनित्यानामेत्यपि द्रष्टव्यम् ।

एतद्दोषपरिहारार्थं ज्ञेयस्यापि सतोऽभावस्य ज्ञानाभेदो नाङ्गीक्रियत इति शङ्कते—अथेति । तर्हि ज्ञेयाभिन्नत्वेन हेतुना सुषुप्ते ज्ञानाभावो न सिध्यति घटाद्यभावेन तज्ज्ञानाभावसिद्धावप्य[४]भावज्ञानाभावासिद्धेस्तस्याभिन्नत्वाभावादित्याह—न तर्हीति । यद्वाऽभावस्य ज्ञेयस्य ज्ञानाद्भेदे भावस्यापि तथात्वं स्याद्वि[५]शेषहेत्वभावात्तथाच न ज्ञेयाभावाज्ज्ञानाभावसिद्धिरित्याह—न तर्हीति । ननु ज्ञेयस्य ज्ञानव्यतिरिक्तत्वमङ्गीक्रियते तथाचाभावस्य ज्ञानव्यतिरिक्तत्वादभावत्वादिकं सिध्यति । ज्ञानस्य तु न ज्ञेयव्यतिरिक्तत्वम् । तथा च ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावसिद्धिरिति निरुद्धगतिकः शङ्कते—ज्ञेयमिति । ज्ञानस्य ज्ञेयव्यतिरेके ज्ञेयस्यापि तदव्यतिरेकावश्यंभावाद[६]न्यथोभयोरत्यन्तभेद एव स्याद्[७]भेदाभेदयोर्विरोधादनुपपत्तेरिति दूषयति—न शब्दमात्रत्वादिति । इदमुपलक्षणम् । ज्ञानस्याभावाव्यतिरेकेण

सिद्धान्ती :—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि अभाव भी ज्ञेयस्वरूप माना गया है । वैनाशिकों ने भी अभाव को ज्ञेय तथा नित्य स्वीकार किया है; यदि ऐसे ज्ञेय से ज्ञान को अभिन्न माना जाय तो उनके मत में भी वह ज्ञान नित्य मानना पड़ेगा । फिर तो उस ज्ञान का अभाव ज्ञानस्वरूप होने के कारण उसमें अभावत्व कहने मात्र के लिये है, वास्तव में ज्ञान का अभावत्व और अनित्यत्व सिद्ध नहीं होता है । नित्य ज्ञान का केवल नाम अभाव रख लिया जाय तो ऐसे नाममात्र के अध्यारोप से हमारा कुछ बिगड़ता नहीं है ।

---

१. तदभावस्येति—घटादिज्ञेयाभिन्नस्य ज्ञानस्याभावस्येत्यर्थः । सुषुप्तौ घटादीनामभावस्येति यावत्, यद्वा तस्य वैनाशिकस्य (मते) अभावस्तदभावस्तस्येत्यर्थः । २. किंचिदिति—ज्ञानस्य वास्तव नित्यत्वं सत्त्व चेत्यर्थः । ३. शब्दमात्रत्वे हेतुमाह—विशेषानुपपत्तेरिति । ज्ञेयज्ञानयोरिति भावः । ४. अभावज्ञानाभावासिद्धेरिति—नन्विदमयुक्तमभावस्य ज्ञानभिन्नत्वेनैव तदभावे ज्ञानाभावस्यैव तत्सत्त्वे ज्ञानसत्त्वस्यापि वक्तुमशक्यत्वादित्याशङ्क्याऽऽह—तस्याभिन्नत्वाभावादिति । अभावस्य ज्ञानभिन्नत्वेन ज्ञेयत्वाज्ज्ञेयसत्त्वे च ज्ञानावश्यंभावनियमादिति भावः । ५. विशेषहेत्वभावादिति—अभावस्यैव ज्ञानभिन्नत्वे विनिगमनाविरहादित्यर्थः । न चाभावत्वमेवोपाधिरिति शक्यं वक्तुं पक्षेतरत्वतुल्यत्वात् । ६. अन्यथेति—ज्ञेयस्य ज्ञानाद्भेदे सतीत्यर्थः । ७. ननु ज्ञेये ज्ञानभेदो, ज्ञाने च ज्ञेयाभेद इत्येवं भेदाभेदावेवोभयोरासातामत्यन्तभेदस्तु कुत इत्याशङ्क्य हेतुमाह—भेदाभेदयोर्विरोधानुपपत्तेरिति । ज्ञेयाभिन्नज्ञानभेदस्य ज्ञेयेऽभ्युपगमे एकत्र ज्ञेये ज्ञेयभेदाभेदौ विरुद्धौ प्रसक्तौ नोपपद्येते इति तयोरत्यन्तभेद एव स्यादिति भावः ।

¹ज्ञेयज्ञानयोरेकत्वं चेदभ्युपगम्यते ज्ञेयं ज्ञानव्यतिरिक्तं ज्ञानं ज्ञेयव्यतिरिक्तं नेति तु शब्दमात्रमेतद्वह्निरग्निव्यतिरिक्तोऽग्निर्न वह्निव्यतिरिक्त इति यद्वदभ्युपगम्यते, ज्ञेयव्यतिरेके तु ज्ञानस्य ज्ञेयाभावे ज्ञानाभावानुपपत्तिः सिद्धा ।

ज्ञेयाभावेऽदर्शनादभावो ज्ञानस्येति चेन्न । सुषुप्ते ज्ञप्त्यभ्युपगमात् । वैनाशिकैरभ्युपगम्यते हि सुषुप्तेऽपि ज्ञानास्तित्वं, तत्रापि ज्ञेयत्वमभ्युपगम्यते ज्ञानस्य स्वेनैवेति चेन्न । भेदस्य सिद्धत्वात् । सिद्धं ह्यभाव²विज्ञेयविषयस्य ज्ञानस्याभावज्ञेयव्यतिरेकाज्ज्ञेयज्ञानयोरन्य-

---

नित्यत्वादिकं च स्यादेवेत्यपि द्रष्टव्यम् । यद्येतद्दोषपरिहाराय तस्यापि भेद एवाङ्गीक्रियते तर्हि न सुषुप्तौ ज्ञानाभावसिद्धिरित्युपसंहरति—ज्ञेयव्यतिरेके त्विति ।

सुषुप्ते ज्ञानस्यादर्शनादेवाभाव इत्याद्ये द्वितीयं शङ्कते—ज्ञेयाभाव इति । आलयविज्ञानसंततेर्नित्यत्वाङ्गीकारेण त्वया तदाऽपि तदभावो वक्तुं न शक्यत इत्याह—न सुषुप्त इति । अस्तित्वमिति । तथाच ज्ञानस्यादर्शनमसिद्धं सुषुप्तेऽपि तदङ्गीकारादित्यर्थः । ननु ज्ञेयाभावेन तन्निरूप्यस्य ज्ञानस्यादर्शनमित्युच्यते मया, सुषुप्ते च स्वस्यैव स्वज्ञेयत्वाज्ज्ञानदर्शनमुपपद्यतेऽस्मन्मते । त्वन्मते तु स्वज्ञेयत्वानङ्गीकारात्सुषुप्ते चान्यस्याभावान्निरूपकाभावान्न ज्ञानदर्शनास्तित्वमुपपद्यत इति शङ्कते—तत्रापीति । अभावस्थले ज्ञानज्ञेययोर्भेदस्य साधितत्वात्तद्दृष्टान्तेन सर्वत्र ज्ञानज्ञेययो³र्भेदसाधनान्न स्वज्ञेयत्वं ज्ञानस्येत्याह—न भेदस्येति । अभावरूपो [वि]ज्ञेयो विषयो यस्य तस्य ज्ञानस्या-

---

मध्यस्थ :—यदि ज्ञेयरूप होने पर भी अभाव ज्ञान से भिन्न माना जाय तो ?

सिद्धान्ती :—तब तो ज्ञय का अभाव होने पर ज्ञान का अभाव नहीं कह सकते ।

मध्यस्थ :—यदि ज्ञान से भिन्न ज्ञेय का माना जाय, ज्ञेय से भिन्न ज्ञान को न माना जाय तो ?

सिद्धान्ती :—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा कहने से शब्दमात्र का भेद प्रतीत होता है, वस्तु में कोई विशेषता नहीं । यदि ज्ञान और ज्ञेय की अभिन्नता मानते हो तो ज्ञेय ज्ञान से भिन्न है पर ज्ञान ज्ञेय से भिन्न नहीं है, ऐसा कहना इसी प्रकार केवल शब्दमात्र है । जैसा वह्नि अग्नि से भिन्न है किन्तु अग्नि वह्नि से भिन्न नहीं । अतः यह सिद्ध हुआ कि ज्ञान, ज्ञेय से भिन्न होने के कारण ज्ञेय के अभाव होने पर भी ज्ञान के अभाव की सिद्धि नहीं हो सकती ।

मध्यस्थ :—यदि ज्ञेय के अभाव हो जाने पर उसकी प्रतीति न होने के कारण ज्ञान का भी अभाव मान लिया जाय तो;

सिद्धान्ती :—ऐसा मानना भी ठीक नहीं क्योंकि सुषुप्ति में भी आलय विज्ञानरूप ज्ञप्ति का अस्तित्व वैनाशिकों ने स्वीकार किया ही है ।

मध्यस्थ :—यदि उस सुषुप्तावस्था में ज्ञानगत ज्ञेयत्व स्वयं ज्ञान से ही जाना जाता है, ऐसा कहें तो;

---

१. न तु ज्ञानं ज्ञेयव्यतिरिक्तमित्यस्य पर्यवसितार्थमादाय सूत्र व्याचष्टे—ज्ञेयज्ञानयोरेकत्वं चेदभ्युपगम्यत इत्यादिना । २. ज्ञानाभावयोरन्यत्वेऽपि ज्ञेयज्ञानयोस्तु कुतस्तदिति मा प्रत्यवस्थितवैनाशिक इति तदभ्युपगतमेव स्मारयन्नभावं विशिनष्टि—विज्ञेयेति । ३. भेदसाधनादिति—सुषुप्तावपि यज्ज्ञेयं भावात्मकमिति तज्ज्ञानादभेतुमर्हति ज्ञेयत्वादभाववदिति भावः ।

त्वम् ।

न हि तत्सिद्धं [1]मृतमिवोज्जीवयितुं पुनरन्यथा कर्तुं शक्यते वैनाशिकशतैरपि । ज्ञानस्य ज्ञेयत्वमेवेति तदप्यन्येन तदप्यन्येनेति त्वत्पक्षेऽतिप्रसङ्ग इति चेन्न । तद्विभागोपपत्तेः सर्वस्य । यदा हि सर्वं ज्ञेयं कस्यचित्तदा तद्व्यतिरिक्तं ज्ञानं ज्ञानमेवेति द्वितीयो

भावरूपो यो ज्ञेयस्तद्व्यतिरेकादित्यर्थः ।

[4]अभावस्थले भेदेऽपि न सर्वत्रेत्याशङ्क्य [5]न्यायस्य तुल्यत्वान्न [6]तदन्यथा कर्तुं शक्यमित्याह—न हीति । [7]ज्ञानस्य स्वव्यतिरिक्तज्ञेयत्वनियमपक्षेऽनवस्थां वैनाशिकः शङ्कते—[8]ज्ञानस्येति । ज्ञेयस्य स्वव्यतिरिक्तज्ञेयत्वनियमाङ्गीकारादस्मन्मते च ज्ञानस्य ज्ञेयत्वानङ्गीकारान्न दोष इत्याह—न तदिति । सर्वस्य वस्तुजातस्य विभागोऽसंकरो ज्ञानं ज्ञानमेव न ज्ञेयं, ज्ञेयमपि ज्ञेयमेव न कदाचिदपि ज्ञानमित्येवंरूपस्तस्योपपत्तेरित्यर्थः । अथवा द्विभागोपपत्तेरिति च्छेदः । ज्ञानज्ञेयरूपभागद्वयमेव राशिद्वयमेवाङ्गीक्रियते न तृतीयो ज्ञानविषयकज्ञानरूपो [9]भावराशिरङ्गीक्रियत इत्यर्थः । ता([10]त)-मेवाऽऽह—यदा हीति । यस्मिन्पक्षे ज्ञेयं सर्वं स्वव्यतिरिक्तस्य कस्यचिज्ज्ञानस्य ज्ञेयमित्यङ्गीक्रियत इति

सिद्धान्ती :—यह भी ठीक नहीं क्योंकि उन ज्ञान और ज्ञेय का भेद सिद्ध हो चुका है। अभावरूप विज्ञेय विषय का ज्ञान अभावरूप नहीं है किन्तु उस ज्ञेय से भिन्न होने के कारण ज्ञेय और ज्ञान का भेद पहले सिद्ध हो चुका है, उस सिद्ध हुये अर्थ को मृतक को पुनर्जीवित करने के समान संकड़ों वैनाशिक भी अन्यथा कर नहीं सकने ।

पुर्वपक्ष :—यदि ज्ञान में ज्ञेयत्व किसी अन्य ज्ञान का माने तो दूसरा ज्ञान भी किसी अन्य ज्ञान का ज्ञेय होगा और वह तीसरा किसी अन्य ज्ञान का ज्ञेय होगा। इस प्रकार मानने से अनवस्था दोष होने लग जायगा (अतः ज्ञानगत ज्ञेयत्व स्व का ही है, अन्य का नहीं) ।

सिद्धान्ती :—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि सम्पूर्ण वस्तुओं का ज्ञान और ज्ञेयरूप से विभाग करना सम्भव है। जब कभी ज्ञेय वस्तु किसी एक से जानी जाती हैं, तो उन ज्ञेय विषय से उनका प्रकाशक ज्ञान भिन्न ही रहता है और वह ज्ञानस्वरूप हो रहेगा, ज्ञेय नहीं हो सकता। ऐसा दूसरा ही विभाग क्षणिक विज्ञानवादियों से भिन्न लोगों ने माना है। इस ज्ञान और ज्ञेयरूप में विभक्त

१. मृतमिवेति—मृत यथा न पुनरुज्जीवयितुं शक्यं तथा सकृत्सिद्ध ज्ञानज्ञेययोरन्यत्वं न पुनरन्यथा कर्तुं शक्यत इत्यन्वयः। २. अतिप्रसङ्गोऽनवस्थारूपानिष्टप्रसङ्ग इत्यर्थः। ३. न। तदनि—तद् अनवस्थात्मकमनिष्टं नेत्यर्थः। तत्र हेतुविभागोपपत्तरिति। ४. उक्तानुमानेऽभावत्वमुपाधिरित्याशयेन शङ्कते—अभावेति। ५. न्यायस्येति—ज्ञेयत्वरूपहेतोरिति यावत्। पक्षेतरत्वरूपत्वाच्चाभावत्वं नोपाधिर्भवितुमर्हतीति भावः। ६. तदन्यत्वम्। ७. ज्ञानज्ञेययोर्भेदोक्ति सिद्धान्तिनोऽन्यर्थैव पर्यवसाय्याह—ज्ञानस्येत्यादि। ८. ज्ञानस्येतीति—अत्र तदप्यन्येनेतीत्येव प्रतीकोपादानं युक्त पश्यामः। ज्ञानस्य ज्ञेयत्वमेवेनीति तु पूर्वत्रैवान्वेतुं युज्यत इतीत्यवधेयम्। यथास्थितास्थायां तु भाष्ये ज्ञेयत्वमित्यस्य स्वव्यतिरिक्तज्ञेयत्वमित्यर्थः स्वीकरणीय इत्यलम्। ९. भावराशिरिति—अत्र भागो राशिरिति पाठं सम्यञ्चं प्रतिपद्ये यथाश्रुतस्यास्वारसिकत्वप्रतीतेः। तथा च ज्ञानत्वमेको भागो ज्ञेयत्वं द्वितीयो भाग इति भागद्वयमेव मन्यते, ज्ञानविषयकज्ञानोपगमे तु ज्ञानत्वे सति ज्ञेयत्वरूपस्तृतीयोऽपि भागः स्यात्। सोऽस्माभिर्नोपगम्यत इत्यर्थः। १०. तमेवेति—यथोक्तविभागमेवेत्यर्थः। तामेवेति पाठे तु त्रिभागोपपत्तिमेवेत्यर्थः।

विभाग एवाभ्युपगम्यतेऽवैनाशिकैर्न तृतीयस्तद्विषय इत्यनवस्थानुपपत्तिः ।

ज्ञानस्य स्वेनैवाविज्ञेयत्वे सर्वज्ञत्वहानिरिति चेत्सोऽपि दोषस्तस्यैवास्तु किं तन्निर्वहणेनास्माकमनवस्थादोषश्च ज्ञानस्य ज्ञेयत्वाभ्युपगमादवश्यं च वैनाशिकानां ज्ञानं ज्ञेयम् ।

स्वात्मना चाविज्ञेयत्वेनानवस्थाऽनिवार्या । समान एवायं दोष इति चेन्न । ज्ञान-

---

ज्ञेयपदावृत्त्या स्वव्यतिरिक्तस्येतिपदाध्याहारेण च यदा हीति वाक्यं योज्यम् । अवैनाशिकैरिति च्छेदः । तद्विषय इति । ज्ञानविषयकज्ञानात्मक इत्यर्थः ।

तर्हि त्वत्पक्षे ज्ञानात्मकस्य ब्रह्मणः सर्वज्ञत्वं न स्यात्स्वेन स्वस्याज्ञानादिति शङ्कते—ज्ञानस्येति । ज्ञातुं योग्यस्य सर्वस्याज्ञाने हि सर्वज्ञत्वहानिः, अन्यथा शशविषाणादेरज्ञानात्सर्वज्ञत्वं कस्यापि मते न स्यादतो नास्मन्मते तस्य दोषस्य प्राप्तिः किंतु वैनाशिकस्यैव, तेन ज्ञानस्यावश्यज्ञेयत्वाङ्गीकारात्स्वेन स्वस्य ज्ञेयत्वस्य सिद्धं हीति पूर्वग्रन्थे दूषितत्वाद[1]न्यज्ञेयत्वस्य चानङ्गीकारात्सर्वज्ञत्वायोगादित्याह—सोऽपीति । तर्हि तव मते कथं सर्वज्ञत्वनिर्वाह इत्याशङ्क्याऽस्मन्मते [2]तस्य [3]मायिकत्वेन तदनिर्वाहेऽपि न दोष इत्याह—किं तदिति । वस्तुतस्तु सर्वव्यवहारहेतुज्ञानत्वं सर्वज्ञत्वं तत्तु ज्ञानस्यापि स्वप्रकाशत्वेन स्वव्यवहारहेतुत्वादस्ति, ज्ञातुं योग्य[4]सर्वज्ञानाद्वा तदस्तीति भावः । पूर्वोक्तानवस्थादोषोऽपि तस्यैवेत्याह—अनवस्थेति ।

ननु तेन स्वेनैव ज्ञेयत्वाङ्गीकारान्नानवस्थेत्यत आह—स्वात्मना चेति । सिद्धं हीत्यत्र स्वज्ञेयत्वासंभवस्योक्तत्वात्परिशेषादन्यज्ञेयत्वे तस्य तस्याप्येवमित्यनवस्थाऽनिवार्येत्यर्थः । ज्ञानस्याज्ञेयत्वे तद्व्यवहारासिद्धिर्ज्ञानान्तरज्ञेयत्वे चानवस्था तवापि स्यादिति शङ्कते—समान एवेति । स्वप्रकाशत्वेन स्वव्यवहारसिद्धेर्ज्ञानभेदस्यैवास्माभिरनङ्गीकारादनवस्थायाः प्रसक्तिरेव नास्तीति

वस्तु से भिन्न तीसरा विभाग नहीं माना गया है । अतः उनके मत में अनवस्था का प्रसंग नहीं आ सकता ।

पूर्वपक्ष :—यदि ज्ञान अपने से ही न जाना जाय तो उस ज्ञान के सर्वज्ञत्व की हानि होने लग जायगी ।

सिद्धान्ती :—यह दोष भी उन वैनाशिकों के पक्ष में ही आयेगा, हमें उस दोष को हटाने की क्या आवश्यकता है क्योंकि ज्ञान में अवश्य ज्ञेयत्व मानने पर ही अनवस्था दोष आता है । वैनाशिकों ने ज्ञान को भी अवश्य ज्ञेय माना ही है । अतः वह ज्ञान अपने आपका ज्ञेय न हो सकने के कारण उनकी अनवस्था अनिवार्य ही है ।

पूर्वपक्ष :—(यदि ज्ञान में अवश्य ज्ञेयत्व न माना जाय तो उसके व्यवहार को सिद्धि न हो सकेगी । अतः उसमें व्यवहार सिद्धि के लिये उस ज्ञान से भिन्न ज्ञान का ज्ञेयत्व आपको भी मानना ही पड़ेगा फिर तो। यह दोष आपके पक्ष में भी समान ही रह जाता है ।

---

१. अन्यज्ञेयत्वस्येति—ज्ञानादन्येन ज्ञानज्ञेयत्वस्येत्यर्थः । तथा च तन्मते ज्ञानादन्यस्य ज्ञानेऽपि ज्ञानस्य ज्ञानासम्भवान्न सर्वविषयं ज्ञानमिति न सर्वज्ञत्वमित्यर्थः । २. तस्य—सर्वज्ञत्वस्य । ३. मायिकत्वेनेति—तथा चानुपपद्यमानत्वेऽपि भासमानत्वं भूषणमेव मायिकस्य न तु दूषणमिति भावः । ४. सर्वज्ञानादिति—अत्र सर्वज्ञानत्वादिति युज्यते ज्ञानस्यापीत्यस्यैवात्रापि सम्बन्धौचित्यादिति ध्येयम् ।

स्यैकत्वोपपत्तेः । सर्वदेशकालपुरुषाद्य[1]वस्थमेकमेव ज्ञानं नामरूपाद्यनेकोपाधिभेदात्सवित्रादिजलादिप्रतिबिम्बवदनेकधाऽवभासत इति । नासौ दोषः । तथा चेहेदमुच्यते ।

ननु श्रुतेः 'इहैवान्तःशरीरे' परिच्छिन्नः कुण्डबदरवत्पुरुष इति, न । प्राणादिकलाकारणत्वात् । [2]न हि शरीरमात्रपरिच्छिन्नस्य प्राणश्रद्धादीनां कलानां कारणत्वं प्रतिपत्तुं शक्नुयात् । कलाकार्यत्वाच्च शरीरस्य । न हि पुरुषकार्याणां कलानां कार्यं सच्छरीरं कारणकारणं स्वस्य पुरुषं कुण्डं बदरमिवाभ्यन्तरी कुर्यात्, [3]बीजादिवत्स्यादिति चेत् ।

परिहरति—न ज्ञानस्येति । एकत्वपक्षे भेदप्रतीतिमुपपादयति—नामरूपेति । [4]एवं च चैतन्यस्यैकत्वेन नित्यत्वाज्जगद्भिन्नत्वेन तस्य सत्यत्वाच्चाधिष्ठानत्वोपपत्तेस्तस्मिन्कलानामध्यारोप आत्मप्रतिपत्त्यर्थमिहोच्यत इत्याह—तथा चेहेति । चैतन्यस्य नित्यत्वेनाधिष्ठानत्वे सतीह श्रुताविदं कलानामध्यारोपणमुच्यत इत्यर्थः ।

ननु चैतन्यस्य न नित्यत्वं परिच्छेदश्रुतेः परिच्छिन्नस्य च घटादिवदनित्यत्वादिति शङ्कते—नन्विति । शरीरान्तःस्थत्वं [5]प्रत्यक्त्वविवक्षयोच्यते न परिच्छेदविवक्षया, तथा सत्य[6]त्तरवाक्यविरोधादित्याह—नेति । अयोग्यत्वादपि सोऽर्थो न विवक्षित इत्याह—कलेति । स्वोत्पत्तेः पूर्वं स्वस्याभावात्तत्कालीनपुरुषं परिच्छेत्तुं न शक्नोतीत्यर्थः । बीजकार्यस्य वृक्षस्य कार्यं फलं स्वकारणवृक्षकारणं बीजमभ्यन्तरीकरोतीति दृष्टमिति नायोग्यत्वमिति शङ्कते—बीजादिवदिति ।

सिद्धान्ती :—ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि ज्ञान में एकत्व सिद्ध हो जाने के कारण हमारे मत में कोई दोष नहीं है । जैसे जलादि में प्रतिबिम्बित एक ही सूर्य अनेक रूप में भासता है, वैसे ही सम्पूर्ण देश, काल और पुरुष आदि अवस्थाओं में अवस्थित एक ही ज्ञान नाम-रूपादि अनेक उपाधियों के भेद से अनेक प्रकार से भासित होता है । अतः हमारे मत में उपर्युक्त दोष नहीं है । इसीलिये यहाँ पर यह कलाओं की उत्पत्ति की बात कही गयी है ।

पूर्वपक्ष :—किन्तु इस श्रुति के अनुसार तो पुरुष कुण्डे में रखे बेर के समान इस शरीर में ही परिच्छिन्न है ।

सिद्धान्ती :—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि पुरुष प्राणादि कलाओं का कारण है । शरीरमात्र से परिच्छिन्न पदार्थ को प्राण श्रद्धादि कलाओं के कारणरूप से नहीं जाना जा सकता है क्योंकि शरीर उन षोडश कलाओं का कार्य है । पुरुष का कार्य प्राणादि कलायें हैं और उन कलाओं का कार्य शरीर है, वह शरीर भला अपने कारण के भी कारण पुरुष को कुण्डे में रखे बेर की भाँति अपने भीतर नहीं कर सकता है ।

१. अवस्थम्—अवच्छिन्नमिति यावत् । २. न हि शरीरमात्रेत्यादि । 'इन्द्रियेभ्यः परं मनः' इत्यादौ कार्यापेक्षया कारणस्य महत्त्वाद्यवधारणात् । शरीरमात्रपरिच्छिन्ने च प्राणादौ तत्त्वादर्शनादिति भावः । ३. बीजादिवदिति—लिखितपुस्तके त्वत्र बीजवदित्येव पाठः । ४. रज्जुसर्पादिभ्रमस्थले हि सर्पाद्यपेक्षयैकस्य नित्यस्य सत्यस्य च रज्ज्वादेरधिष्ठानत्वं दृष्टमित्याशयेनाह—एवं चैतन्यस्येत्यादि । अनित्यं हि घटादिवन्नाना भवति । ५. प्रत्यक्त्वेति—प्रत्यक्त्वमान्तरत्वं तदप्यधिष्ठानत्वे पर्यवस्यतीति भावः । उपलब्ध्यपेक्षया चेत्यपि द्रष्टव्यम् । ६. उत्तरवाक्येति—यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीति वाक्येत्यर्थः ।

यथा बीजकार्यं वृक्षस्तत्कार्यं च फलं स्वकारणकारणं बीजमभ्यन्तरीकरोत्याम्रादि तद्वत्पुरुषमभ्यन्तरीकुर्याच्छरीरं स्वकारणकारणमपीति चेन्न । अन्यत्वात्सावयवत्वाच्च । दृष्टान्ते कारणबीजाद्वृक्षफलसंवृतान्यन्यान्येव बीजानि दार्ष्टान्तिके तु स्वकारणकारणभूतः स एव पुरुषः शरीरेऽभ्यन्तरीकृतः श्रूयते ।

बीजवृक्षादीनां सावयवत्वाच्च स्यादाधाराधेयत्वं निरवयवश्च पुरुषः सावयवाश्च कलाः शरीरं च, एतेनाऽऽकाशस्यापि शरीराधारत्वमनुपपन्नं किमुताऽऽकाशकारणस्य

तद्विवृणोति—यथेति । दृष्टान्ते बीजव्यक्तिभेदादविरोधेऽपीह पुरुषव्यक्त्यैक्यात्कारणत्वाभ्यन्तरीभावयोर्विरोध इत्याह—नेति । ननु कारणीभूतबीजस्यैव वृक्षफलतदन्तर्गतबीजरूपेण परिणामात्तयोः कारणकार्यबीजयो[१]रैक्यमाशङ्क्यैवमपि तस्य सावयवत्वाद्वृक्षवत्फलाकारेण परिणतावयवेभ्यो भिन्नावयवानामेव तदन्तर्गतबीजरूपेण परिणामा[२]त्तयोर्भेदेनाऽऽधाराधेयभावः स्यादिह तु निरवयवत्वान्न तथात्वमित्याह—सावयवत्वाच्चेति । आद्यं हेतुं विवृणोति—दृष्टान्त इति । श्रूयत इति । 'यस्मिन्नेताः षोडशकलाः' इति यच्छब्दोक्तस्यैव पुरुषस्यान्तःशरीरे सोम्य स पुरुष इति तच्छब्देनाभिधानादित्यर्थः ।

द्वितीयं हेतुं विवृणोति—बीजेति । निरवयवश्चेति । तथा चैकदेशेन कलादिरूपेण परिणाम एकदेशेन तत्रावस्थानं बीजवन्न संभवतीत्यर्थः । किंच कलानां सावयवत्वेन परिच्छेदात्पुरुषस्य तद्विपरीतत्वादपरिच्छिन्नस्य न परिच्छिन्नाधारकत्वं संभवतीत्याह—सावयवाश्चेति । यद्वा [३]सावयवत्वेन कार्यतया मृषात्वान्निरवयवतया परमार्थसत्यपुरुषाधारत्वं नोपपद्यत इत्याह—सावयवाश्चेति । नन्वाकाशकार्यशरीर आकाशस्यापरिच्छिन्नस्याभ्यन्तरीभावो दृष्ट इत्याशङ्क्य तस्यापि शरीराकारेणावस्थानमेव च्छिद्रादिविशिष्टस्यैव शरीरत्वान्न तु तदन्तःस्थत्वमित्याह—एतेनेति । युक्त्यसहमपि

पूर्वपक्ष :—जैसे बीज का कार्य वृक्ष है और उस वृक्ष का कार्य आम्रादि फल हैं, जो अपने कारण के कारण बीज को अपने भीतर कर लेता है, वैसे ही बीज वृक्ष के समान शरीर भी अपने कारण के कारण पुरुष को अपने भीतर कर लेगा, यदि ऐसा माना जाय तो ?

सिद्धान्ती :—ऐसा कहना भी ठीक नहीं है (क्योंकि वृक्ष के कारणीभूत पूर्व बीज की अपेक्षा वृक्ष के फल में रहने वाला बीज) भिन्न है और सावयव है । दृष्टान्त में कारणरूप बीज से वृक्ष के फल में ढका हुआ बीज भिन्न ही है, किन्तु दार्ष्टान्त में अपने कारण का कारणरूप वही पुरुष शरीर के भीतर हुआ सुना जाता है, इसके अतिरिक्त सावयव होने के कारण भी बीज वृक्षादि में परस्पर आधार-आधेयभाव हो सकता है किन्तु दार्ष्टान्त में पुरुष निरवयव है और प्राणादि कलायें तथा शरीर सावयव हैं। इस प्रकार शरीर आकाश का भी आधार सिद्ध नहीं हो सकता, फिर भला आकाश के कारण-

---

१. ऐक्यमित्यनन्तरमिति शब्दो द्रष्टव्यो ननुशब्दसाङ्गत्याय । २. तयोरिति फलबीजयोरित्यर्थः । ३. सावयवत्वे कार्यतया मृषात्वादिति—नन्वेवमकार्यत्वादविद्यादेरपि मृषात्वं न स्यात्सत्यत्वं च स्यादिति चेन्न, अविद्यादेरनिर्वचनीयतया सावयवनिरवयववैलक्षण्येन कार्याकार्यवैलक्षण्यात् । मृषात्वं तु बोधनिवर्त्यत्वात् । तत्त्वं च भूयश्चान्ते विभ्रमायानिवृत्तिरित्यादिशास्त्रादित्यवधेयम ।

पुरुषस्य, तस्मादसमानो दृष्टान्तः। किं दृष्टान्तेन वचनात्स्यादिति चेन्न। वचनस्याकारकत्वात्। न हि वचनं वस्तुनोऽन्यथाकरणे व्याप्रियते। किं तर्हि यथाभूतार्थावद्योतने। तस्मादन्तःशरीर इत्येतद्वचनम[१]ण्डस्यान्तर्व्योमे[२]तिवच्च द्रष्टव्यम्। उपलब्धिनिमित्तत्वाच्च दर्शनश्रवणमननविज्ञानादिलिङ्गै रन्तःशरीरे परिच्छिन्न इव ह्युपलभ्यते पुरुष उपलभ्यते चात उच्यतेऽन्तःशरीरे सोम्य स पुरुष इति। न पुनरा[३]काशकारणः सन्कुण्डबदरवच्छरीरपरिच्छिन्न इति मनसाऽपीच्छति वक्तुं [४]मूढोऽपि किमुत प्रमाणभूता श्रुतिः॥२॥

यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्ती[५]त्युक्तं [६]पुरुषविशेषणार्थं कलानां प्रभवः, [७]स चान्यार्थोऽपि श्रुतः केन क्रमेण स्यादित्यत इदमुच्यते—

वचनप्रामाण्यादङ्गीकार्यमिति शङ्कते—किं दृष्टान्तेनेति। वचनस्यापि वस्तुनोऽन्यथाकरणे सामर्थ्याभावाद्वस्तुस्वरूपाविरोधेनैव बोधकत्वाद[८]न्यथा विचारवैयर्थ्याद्विरुद्धार्थो न बोधार्ह इत्याह—वचनस्येति। तर्ह्यन्तःशरीर इति श्रुतेः कथमुपपत्तिरित्याशङ्क्य पुरुषस्य शरीरोपादानत्वेन तदनुस्यूतस्य तदन्तर्गतत्वप्रतीतेस्तदभिप्रायेयं श्रुतिरिति सदृष्टान्तमाह—तस्मादिति। अण्डेति। अण्डकारणस्य व्योम्नो यथा तदनुस्यूतत्वेन तदन्तर्गतत्वप्रतीतिस्तद्वदित्यर्थः। यद्वा लोकभ्रमसिद्धं परिच्छिन्नत्वमनूद्यते श्रुत्येत्याह—उपलब्धेति। तत्राभिव्यक्तेर्वा तदन्तर्गतत्वव्यपदेश इत्याह—उपलभ्यते चेति॥२॥

ननु यस्मिन्नेताः षोडशकलाः प्रभवन्तीत्यनेनाध्यारोपस्योक्तत्वात्स ईक्षामित्यादिना पुनः सृष्टिकथनमधिकमित्यत आह—यस्मिन्निति। अत इति। क्रमप्रतिपत्त्यर्थं स ईक्षामित्याद्युच्यत इत्यर्थः।

स्वरूप पुरुष का आधार कैसे बन सकता है। अतः यह दृष्टान्त समान नहीं है, अपितु विषम है।

मध्यस्थ :—दृष्टान्त से क्या लेना है, श्रुति वाक्य से तो उक्त बात सिद्ध हो ही जायेगी।

सिद्धान्ती :—ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि वचन कारक नहीं होता है। वचन किसी भी वस्तु को कुछ का कुछ बना देने में प्रवृत्त नहीं होता तो फिर क्या करता है? वह वचन तो वस्तु को ज्यों के त्यों बतलाने में प्रवृत्त होता है। अतः "अन्तः शरीरे" इस वचन को "अण्डे के भीतर आकाश" इस कथन के समान ही जानना चाहिये।

इसके अतिरिक्त उपलब्धि का कारण होने से ही (पूर्वोक्त अभिप्राय मानना उचित है) देखना, सुनना, मनन करना और जानना आदि लिंगों से शरीर के भीतर पुरुष परिच्छिन्न-सा जान पड़ता है और इस शरीर मात्र में ही उसकी उपलब्धि भी होती है। इसीलिये ऐसा कहा गया है कि

---

१. अवच्छेदवादेन दृष्टान्तमाह—अण्डस्यान्तर्व्योमेतिवदिति। २. इतिवच्चेति—चकारः प्रतिबिम्बवादेन दर्पणस्यान्तर्मुखमिति दृष्टान्तसमुच्चयार्थः। ३. आकाशकारण इति। लिङ्गमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिङ्गस्येति शरणम्। ४. मूढोऽपीति—मौढ्यं हि सूक्ष्मार्थमवगाहते पर्वतस्य घटावेशं तु तदप्यत्येतीति लौकिकमिति भावः। ५. इत्युक्तमिति—अत्र इत्युक्त इति साधीयान् पाठः यथा श्रुतस्तु तत्रेति शेषेण शक्यो योजयितुम्। ६. पुरुषविशेषणार्थमिति—अध्यारोपन्यायेन पुरुषबोधनार्थमिति यावत्। ७. स चान्यार्थोऽपीत्यादि—अध्यारोप्योक्तस्य अपवादार्थत्वेऽपि श्रुतत्वादेव क्रमेणापि भवितव्यमिति भावः। ८. अन्यथा विचारवैयर्थ्यादिति—यथाश्रुतवचनार्थस्यैव तथ्यत्वसम्भवे 'आदित्यो यूपो यजमानः प्रस्तरः' इत्येवमादिवचनानामर्थवादत्वनिर्णयाय विचारो न स्यादिति भावः।

स ईक्षांचक्रे । कस्मिन्नहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठिते प्रतिष्ठास्यामीति ॥३॥

उस षोडश कला पुरुष ने ईक्षण (विचार) किया कि किस विशेष कर्ता के उत्क्रमण करने पर मैं भी शरीर से उत्क्रमण कर जाऊँगा। वैसे ही शरार में किसके स्थित रहने पर मैं भो स्थित रहूँगा ॥३॥

चेतनपूर्विका च सृष्टिरित्येवमर्थं च पुरुषः षोडशकलः पृष्टो यो भारद्वाजेन, स ईक्षांचक्र ईक्षणं दर्शनं चक्रे कृतवानित्यर्थः। सृष्टिफलक्रमादिविषयम्। कथमित्युच्यते, कस्मिन्कर्तृविशेषे देहादुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्याम्यहमेव(वं) कस्मिन्वा शरीरे प्रतिष्ठितेऽहं प्रतिष्ठास्यामि प्रतिष्ठितः स्यामित्यर्थः।

तत्प्रतिपत्तिश्च कलोत्पत्तिप्रतिपत्तिसौकर्यार्थं [1]'विपर्ययेण तु क्रमोऽत उपपद्यते चेति न्यायेन कार्यस्य स्वस्वकारणक्रमेणापवादसौकर्यार्थं चेत्यर्थः। ईक्षणोक्तेः प्रयोजनमाह—चेतनेति। सृष्टीति। सृष्टिः प्राणादेः सृष्टिः, तस्या उत्क्रान्त्यादि फलं, क्रमः प्राणाच्छ्रद्धामित्याद्युक्तानन्तर्यम्। आदिशब्देन लोकेषु च नाम चेत्याधाराधेयविशेषो गृह्यते।

हे प्रियदर्शन! वह पुरुष इस शरीर के भीतर है, नहीं तो आकाश का भी कारण होता हुआ वह पुरुष कुण्डे में बेर के समान शरीर से परिच्छिन्न है। ऐसा कोई मूर्ख मन से भी कहना नहीं चाहेगा; फिर प्रमाणभूत श्रुति की तो बात ही क्या है? ॥२॥

ईक्षण पूर्वक जगत् की सृष्टि

"जिसमें तो सोलह कलाएँ उत्पन्न होती हैं" यह बात पुरुष की विशेषता बतलाने के लिये पहले कही जा चुकी है। इस प्रकार पुरुष की विशेषतारूप अन्य अर्थ को बतलाने के लिये सुना गया उन कलाओं का प्रादुर्भाव किस क्रम से हुआ होगा और सृष्टि चेतन पूर्विका हुआ करती है। इस बात को बतलाने के लिये भी अब आगे का प्रसंग कहा जाता है।

जिसके विषय में भारद्वाज ने पूछा था उस सोलह कलाओं वाले पुरुष ने प्राणादि की उत्पत्ति, उसके उत्क्रमणादि और प्राण से श्रद्धा आदि क्रम के विषय में विचार किया। कैसे? इसे कहते हैं, किस कर्ता विशेष के शरीर से उत्क्रमण करने पर मैं भी उत्क्रमण कर जाऊँगा और इसी प्रकार शरीर में किसके प्रतिष्ठित होने पर मैं भी प्रतिष्ठित होऊँगा (बस इसी बात को निश्चित करने के लिये उसने विचार किया)।

---

१. विपर्ययेणेत्यादि—ब्र. सू. २·३-१४। तदर्थः—अतः उत्पत्तिक्रमात् विपरीतक्रमेणैव लयक्रमः स्वकारणे कार्याणां लयदर्शनात्। उपपद्यते च व्युत्पत्तिक्रमेणैव लयक्रमः। इतरथा सति कार्ये कारणस्य नाशः स्यात्। स चानिष्ट इति।

नन्वात्माऽकर्ता प्रधानं कर्तृ, अतः पुरुषार्थं प्रयोजनमुररीकृत्य प्रधानं प्रवर्तते महदाद्याकारेण, तत्रेदमनुपपन्नं पुरुषस्य स्वातन्त्र्येणेक्षापूर्वकं कर्तृत्ववचनं सत्त्वादिगुणसाम्ये प्रधाने [1]प्रमाणोपपन्ने सृष्टिकर्तरि सतीश्वरेच्छानुवर्तिषु वा परमाणुषु सत्स्वात्मनोऽप्येकत्वेन कर्तृत्वे साधनाभावादात्मन आत्मन्यनर्थकर्तृत्वानुपपत्तेश्च। न हि चेतनावान्बुद्धिपूर्वकार्यात्मनोऽनर्थं कुर्यात्।

तस्मात्पुरुषार्थेन प्रयोजनेनेक्षापूर्वकमिव नियतक्रमेण प्रवर्तमानेऽचेतने प्रधाने चेतन-

---

नन्वीक्षणोक्त्या न चेतनपूर्वकत्वसिद्धिर्ययेन चेतनस्याकर्तृत्वेनाहेतुत्वेऽचेतनस्य प्रधानादेर्विक्रियावत्त्वेन हेतुत्वे च सतीक्षणस्यान्यथा नेयत्वादिति सांख्याः शङ्कन्ते—नन्वात्मेति। अकर्तेत्यस्य तत्रेदमित्यनेनान्वयः। आत्माऽकर्ता तत्र तथा सतीदं कर्तृत्ववचनमुपपन्नमित्यर्थः। किंच तस्य कर्तृत्वाङ्गीकारेऽपि कर्तुः कुलालादेरिव सहकारिसाधनान्तराभावादात्मनो दुःखाद्यानर्थहेतुप्राणादिसंसारकर्तृत्वानुपपत्तेश्चानुपपन्नं स्रष्टृत्ववचनमित्याह—आत्मनोऽपीति। कर्तृत्वेऽपीत्यपिशब्दान्वयः। तर्हि किं कर्त्रत आह—प्रधानमिति। कर्त्रिति। क्रियाशक्तिमदतः प्रवर्तत इत्यन्वयः। ननु प्रधानस्याचेतनस्य प्रयोजनापेक्षाभावात्प्रवृत्त्यनुपपत्तिरित्यत आह—पुरुषार्थमिति। पुरुषस्य चेतनस्य भोगापवर्गरूपमर्थं प्रयोजनमुद्दिश्य प्रवर्तते वत्सविवृद्ध्यर्थमचेतनस्य धेनुदेहगतक्षीरस्य सस्यादिविवृद्ध्यर्थमम्बुनश्चाचेतनस्य प्रवृत्तिदर्शनादित्यर्थः। ननु प्रधानस्याप्येकत्वेन सहकार्यभावात्कारणत्वानुपपत्तावगत्या चेतनस्यैव कथंचित्कर्तृत्वं वाच्यमित्यत आह—सत्त्वादीति। सत्त्वादिगुणत्रयस्य साम्यावस्था प्रधानमिति सांख्यमतम्। तत्र सत्त्वादिगुणै[2]रनेकात्मके प्रधाने कारणे सति पुरुषस्य कर्तृत्ववचनमगतेरभावादनुपपन्नमित्यन्वयः। यदि चेतनानधिष्ठितस्याचेतनस्य प्रवृत्तिर्न दृष्टेति मन्यसे तर्हि परमाणुकारणवादोऽस्तु तत्रेश्वरस्याधिष्ठातुः सत्त्वादित्याह—ईश्वरेच्छेति। अत्रापि सत्स्वित्यस्यानुपपन्नमिति पूर्वेणान्वयः।

तर्हीक्षणश्रवणस्य का गतिरत आह—तस्मादिति। पुरुषार्थेनेति। पुरुषस्य भोगापवर्गार्थेनेत्यर्थः। मुख्य ईक्षितरि विद्यमानेन नियतक्रमेण प्रवर्तमानत्वेन गुणेन योगादैक्षतेति गौणः प्रयोगो माणवके

पूर्वपक्ष :—सांख्यवादी ने कहा कि आत्मा अकर्ता है और प्रधान कर्ता है। अतः पुरुष के भोग और मोक्षरूप उद्देश्य को सिद्ध करने के लिये महदादि रूप से प्रधान प्रवृत्त होता है। इस प्रकार सत्त्वादि गुणों के साम्यावस्थारूप प्रधान ही सृष्टि करता है, यह प्रमाण से सिद्ध हुआ तथा नैयायिकों के मतानुसार ईश्वर की इच्छानुकूल प्रवृत्ति करने वाले परमाणुओं को जगत् कारण रूप से रहते हुये भी केवल एक आत्मा में कर्तृत्व मानने में कोई हेतु नहीं है और उस आत्मा का अपने लिये अनर्थकारक जगत् सृष्टि रचना सिद्ध न हो सकने के कारण असंगत है क्योंकि बुद्धि पूर्वक कर्म करने वाला कोई भी चेतना युक्त पुरुष अपना अनथ नहीं कर सकेगा। अतः पुरुष के प्रयोजन के लिये मानो ईक्षा पूर्वक नियमित क्रम से प्रवृत्त हुये अचेतन-प्रधान में ही चेतन की भाँति "उसने विचार किया" इत्यादि प्रयोग औपचारिक समझना चाहिये। जैसे राजा के सम्पूर्ण कार्यों को सम्पादन करने वाले

---

१. प्रमाणोपपन्न इति—अजामेकामित्यादि हि प्रमाणं तत्रेति भावः। २. अनेकात्मके—सावयवे इत्यर्थः।

वदुपचारोऽयं स ईक्षांचक्र इत्यादिः। यथा राज्ञः सर्वार्थकारिणि भृत्ये राजेति तद्वत्। न, आत्मनो भोक्तृत्ववत्कर्तृत्वोपपत्तेः। यथा सांख्यस्य चिन्मात्रस्यापरिणामिनोऽप्यात्मनो भोक्तृत्वं, तद्वद्वेदवादिनामीक्षादिपूर्वकं जगत्कर्तृत्वमुपपन्नं श्रुतिप्रामाण्यात्।

[1]तत्त्वान्तरपरिणाम आत्मनोऽ[2]नित्यत्वाशुद्धत्वानेकत्व[3]निमित्तो न चिन्मात्रस्वरूपविक्रियाऽतः पुरुषस्य [4]स्वात्मन्येव भोक्तृत्वे चिन्मात्रस्वरूपविक्रिया न दोषाय। भवतां पुनर्वेदवादिनां सृष्टिकर्तृत्वे तत्त्वान्तरपरिणाम एवेत्यात्मनोऽनित्यत्वादिसर्वदोषप्रसङ्ग

पङ्गल्यगुणयोगेनाग्निशब्दप्रयोगवदित्यर्थः। नन्वेवमपीक्षितरि प्रधाने पुरुषशब्दः कथमत आह—यथा राज्ञ इति। तद्वदिति। पुरुषस्य भोगापवर्गकारिणि प्रधाने पुरुषशब्द औपचारिक इत्यर्थः। स्वतोऽकर्तुरप्यात्मनो मायोपाधिकर्तृत्वं संभावतीति हृदि निधाय प्रथममापाततः प्रतिबन्द्या परिहरति—नेति। बुद्धिः कर्त्री भोक्ता पुरुष इति वदद्भिः सांख्यैरात्मनो भोक्तृत्वमुक्तमित्यर्थः। श्रुतिप्रामाण्यदिति। श्रुत्युक्तजगत्कर्तृत्वमविकारिणोऽपि कथंचिन्निर्वाह्यमित्यर्थः।

सांख्यः प्रतिबन्दिपरिहारं शङ्कते—तत्त्वान्तरेति। भोगो नाम सुखदुःखानुभवः। स च पुरुषस्य स्वरूपभूत इति न तत्त्वान्तरापत्तिलक्षणपरिणाम इत्यर्थः। परिणामो हि पूर्वरूपपरित्यागेन रूपान्तरापत्तिः। सा च सजातीयरूपान्तरापत्तौ विजातीयरूपान्तरापत्तौ वाऽनित्यत्वादिकमावहेदेवेति [5]भोज्या-

---

सेवक को भी राजा कह दिया जाता है। ठीक वैसे ही पुरुष के सर्वार्थकारी प्रधान में उक्त प्रयोग समझना उचित ही है।

सिद्धान्तीः—ऐसा कहना ठीक नही क्योंकि भोक्तृत्व को भाँति आत्मा में कर्तृत्व मानना भी सम्भव है। जैसे सांख्यों ने चिन्मात्र अपरिणामी आत्मा में भोक्तृत्व माना है, वैसे ही श्रुति प्रमाण के आधार पर वेदवादियों के मत में ईक्षण पूर्वक जगत् कर्तृत्व भी आत्मा में बन सकता है।

पूर्वपक्षः—आत्मा में अनित्यत्व, अशुद्धत्व और अनेकत्व का निमित्त आत्मा का तत्त्वान्तर परिणाम ही है, चिन्मात्र स्वरूप आत्मा में उक्त विकार नहीं माना गया है। अतः पुरुष का भोक्तृत्व आत्मस्वरूप में ही है। ऐसा भोक्तृत्व मान लेने पर चिन्मात्र स्वरूप विक्रिया किसी दोष का कारण नहीं बनती किन्तु आप वेदवादियों के मतानुसार पुरुष में सृष्टि कर्तृत्व मानन पर उसका तत्त्वान्तर परिणाम ही मानना पड़ेगा और ऐसा मानने पर आत्मा में उपर्युक्त अनित्यत्वादि सभी दोषों का प्रसंग आ ही जायगा।

सिद्धान्तीः—ऐसी बात नहीं है। क्योंकि एक आत्मा में अविद्या के कारण नाम रूप उपाधि और उसके अभाव में उपाधि के न रहने से विशेषता मानी गयी है अर्थात् बन्ध-मोक्षादि शास्त्र व्यवहार के लिये ही आत्मा में अविद्याकृत नामरूप उपाधिमूलक भेद माना गया है। परमार्थ दृष्टि से

---

१. तत्त्वान्तरेत्यादि—विजातीयवस्त्वन्तरात्मना परिणाम इत्यर्थः। २. अनित्यत्वेत्यादि—अनित्यत्वं विनाशित्वम्। अशुद्धत्वमैकरस्याभावः। अनेकत्वं सावयवत्वमिति यावत्। ३. निमित्त इति—पुंस्त्व परिणामशब्दसांनिध्यादित्यवधेयम्। सांनिध्यं समानाधिकरणत्वम्। ४. स्वात्मन्येवेत्यादि—स्वरूपभूते भोक्तृत्वे सति स्वीकृते स्वरूपाभिन्नैव विक्रिया न दोषावहेत्यर्थः। ५. भोज्येत्यादि—भोज्यानां बुद्धयादीनामात्मतोऽविवेकः तादात्म्यभ्रमः तदुपाधिकमित्यर्थः।

इति चेन्न । एकस्याप्यात्मनोऽविद्याकृतनामरूपोपाध्यनुपाधिकृतविशेषाभ्युपगमादविद्याकृतनामरूपोपाधिकृतो हि [1]विशेषोऽभ्युपगम्यत आत्मनो बन्धमोक्षादिशास्त्रकृतसंव्यवहाराय परमार्थतोऽनुपाधिकृतं च तत्त्वमेकमेवाद्वितीयमुपादेयं [2]सर्वतार्किकबुद्ध्यनवगाह्यमभयं शिवमिष्यते, न तत्र कर्तृत्वं भोक्तृत्वं वा क्रियाकारकफलं च स्याद[3]द्वैतत्वात्सर्वभावानाम् । सांख्यास्त्वविद्याध्यारोपितमेव पुरुषे कर्तृत्वं क्रियाकारकं फलं चेति कल्पयित्वाऽऽगमबाह्यत्वात्पुनस्ततस्त्रस्यन्तः परमार्थत एव भोक्तृत्वं पुरुषस्येच्छन्ति तत्त्वान्तरं च प्रधानं पुरुषात्परमार्थवस्तुभूतमेव कल्पयन्तोऽन्यतार्किककृतबुद्धिविषयाः सन्तो विहन्यन्ते । ← आगम बाह्यत्वात्

विवेकोपाधिकं भोक्तृत्वमङ्गीकर्तव्यं [4]तेन [5]तदात्मककर्तृत्वेऽपि तुल्यमित्यभिप्रेत्य मुख्यपरिहारमाह—नेति । एकस्य वस्तुतोऽसहायस्याकर्तुराप्तकामस्यापीत्यपेरर्थः । उपाधिकृतकर्तृत्वसंभवादविद्यारूपसहायस्य संभवाद्[6]भ्रान्त्या स्वस्माद्भिन्नजीवानामनाप्तकामानां संभवात्तत्पुरुषार्थार्थं स्रष्टृत्वं तथाविधस्याप्युपपद्यत इति नाचेतनस्य चेतनानधिष्ठितस्य तद्युक्तमिति भावः । नामरूपेति । [7]अनभिव्यक्तनामरूपेत्यर्थः । बन्धमोक्षादीत्यादिशब्देन तत्साधनमुच्यते । मोक्षस्यापि [8]बन्धप्रतियोगित्वेन सोपाधिकत्वमुक्तम् । परमार्थस्य श्रुत्येकगम्यत्वमाह—सर्वेति । एवंभूतस्याऽऽत्मनो न स्रष्टृत्वमित्याह—न तत्रेति । कल्पयित्वेति । कल्पयितुं प्रवृत्ता इत्यर्थः । पुरुषस्य निर्विशेषत्वेन तस्मिन्वस्तुतः कर्तृत्वाद्ययोगात्तदारोपितमेवेति कल्पयितुं प्रवृत्ता अपि [9]सर्वविरोधनिरासकागमप्रमाणैकशरणत्वाभावात्प्रत्यक्षादिविरोधापत्त्याऽऽरोपितत्वाङ्गीकारात् त्रस्यन्तः सर्वं परमार्थत एवेच्छन्ति । तत्राप्यचेतनस्य भोक्तृत्वायोगात्तन्मात्रमात्मनोऽङ्गीकुर्वन्ति । कर्तृत्वादिकं तु प्राधानस्याङ्गीकुर्वन्तीत्यर्थः । तर्हि तस्य को दोष इत्याशङ्क्य भोक्तृत्वाङ्गीकारे तथैव तस्यैव कर्तृत्वमपि स्यादित्य[10]न्यैः शिक्षिताः सन्तः स्वमतात्प्रच्यवन्त इत्याह—अन्येति । कृतायाः शिक्षिताया बुद्धेर्विषया अधीनाः शिक्षितबुद्धय इत्यर्थः ।

उपाधि के अभाव हाने के कारण एक अद्वय तत्त्व ही मानना उचित होगा, जो सम्पूर्ण तार्किकों की बुद्धि का अविषय, अभय और शिव स्वरूप है। सभी भाव वस्तु (अधिष्ठान दृष्टि से) अद्वय ब्रह्म स्वरूप होने के कारण उसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व या क्रिया कारक और फलभेद कुछ भी नहीं है ।

किन्तु सांख्यवादियों ने पहले पुरुष में अविद्या अध्यारोपित कर्तृत्व, क्रिया, कारक और फल की कल्पना कर पुनः वेद बाह्य होने के कारण उससे भयभीत हो पुरुष में वास्तविक भोक्तृत्व मान लिया है तथा पुरुष से भिन्न तत्त्वान्तर परमार्थ वस्तु के रूप में प्रधान मान लेने के कारण अन्य तार्किकों

---

१. विशेषो भेदः । २. सांख्यादीनामपि तार्किकत्वेन संग्रहायाह—सर्वेति । ३. अद्वैतत्वादित्यादि—सर्वेषां कर्तृत्वादिभावानामद्वितीयात्मरूपत्वादित्यर्थः । ४. तेनेति—सांख्येनेत्यर्थः । अङ्गीकर्तव्यमित्यन्वयः । ५. तदात्मकेत्यादि—भोज्याविवेकोपाधिकर्तृत्वेऽपि तुल्यमङ्गीकरणमित्यर्थः । यद्वा तेनाङ्गीकरणेन तुल्यमङ्गीकरण तदात्मकर्तृत्वेऽपीत्यर्थः । वस्तुतस्तु तदात्मकर्तृत्वेऽपीत्येव पाठ्यम् । तथा च तद्—औपाधिकत्वमात्मनः कर्तृत्वेऽपि तुल्यमित्यर्थः । ६. भ्रान्त्येति—ईश्वरे त्वसावाहार्यज्ञानरूपैवेत्यवधेयम् । आहार्यज्ञानेति आहृतस्य च दोषानापादकत्वमेव जगदुः प्रामाणिकाः । आहृता हि विषयैकतानता ज्ञानधौतमनसं न लिम्पतीति । ७. कारणोपाधौ नामरूपयोरनभिव्यक्तत्वाभिप्रायेणाह—अनभिव्यक्तेति । ८. बन्धप्रतियोगित्वेनेति—बन्धनिरूप्यत्वेनेत्यर्थः । ९. सर्वविरोधनिरासकेति—अविद्यामुपाधीकृत्येति भावः । १०. अन्यैः तार्किकैः ।

तथेतरे तार्किकाः सांख्यैरित्येवं परस्परविरुद्धार्थकल्पनात आमिषार्थिन इव प्राणिनोऽन्योन्य[1]विरुद्धमानार्थदर्शित्वात्परमार्थतत्त्वाद्दूरमेवापकृष्यन्तेऽतस्तन्मतमनादृत्य वेदान्तार्थतत्त्वमेकत्वदर्शनं प्रत्यादरवन्तो मुमुक्षवः स्युरिति तार्किकमतदोषप्रदर्शनं किंचिदुच्यतेऽस्माभिर्न तु तार्किकवत्तात्पर्येण ।

तथैतदत्रोक्तम्—

"विवदत्स्वेव निक्षिप्य विरोधोद्भवकारणम् ।
तैः संरक्षितसद्बुद्धिः सुखं निर्वाति वेदवित्" ॥

किञ्च भोक्तृत्वकर्तृत्वयोर्विक्रिययोर्विशेषानुपपत्तिः । का नामासौ कर्तृत्वाज्जात्यन्तरभूता भोक्तृत्वविशिष्टा विक्रिया, यतो भोक्तैव पुरुषः कल्प्यते न कर्ता प्रधानं तु कर्त्रेव न भोक्त्रिति ।

तर्हि सांख्यशिक्षकस्य तार्किकस्य मतं ग्राह्यमत आह—तथेति । तस्यापि सांख्येन शिक्षितत्वान्न तदपि ग्राह्यमित्यर्थः । तर्हि कस्य तार्किकमतं मतं ग्राह्यमित्याशङ्क्य न कस्यापीत्याह—इत्येवमिति । तर्हि त्वया तार्किकमतं किमर्थं दूष्यते । परस्परमेव तैर्दूषितत्वात्तव तद्वदेव द्वेषादिमत्त्वप्रसङ्गाच्चेत्यत आह--अत इति । विरोधोद्भवकारणमिति । पारमार्थिकतया भेददर्शनमित्यर्थः। संरक्षितेति । भेददर्शनस्य परस्परोक्तदोषग्रस्तत्वादद्वैतमेव निर्दुष्टमिति निश्चितबुद्धिः सन्निर्वाति सर्वविकल्पेभ्य उपशान्तो भवतीत्यर्थः । दोषदर्शनं किंचित्क्रियत इति यदुक्तं तदेव प्रपञ्चयन्कर्तृत्वादेरारोपितत्वमेव परेणापि वक्तव्यमित्याह—किंचेत्यादिना । तत्राऽऽदौ भोक्तृत्वकर्तृत्वयोर्विशेषस्य वक्तुमशक्यत्वात्तयोराश्रयव्यवस्था न संभवतीत्याह—भोक्तृत्वेति ।

के आक्रोश बुद्धि के विषय होकर अपने सिद्धान्त से च्युत करा दिये जाते हैं। ऐसे ही दूसरे तार्किक सांख्यवादियों द्वारा वे परास्त कर दिये जाते हैं। इस प्रकार परस्पर विरुद्ध अर्थ की कल्पना कर मांस लोलुप हिंसक प्राणियों के समान एक दूसरे के विरुद्ध अर्थ को देखने के कारण परमार्थ तत्त्व से दूर फेंक दिये जाते हैं। अतः मुमुक्षु जन उनके मत को आदर न कर वेदान्त के तात्पर्य को बतलाने वाले एकत्व आत्मदर्शन के प्रति आदर युक्त होवें। इसीलिये हम तार्किकों के मत का किञ्चित् दोष प्रदर्शित करते हैं, तार्किकों के समान तत्परता से नहीं। इस विषय में ऐसा कहा भी गया है। "इस विरोध की उत्पत्ति के कारण को विवाद करने वालों के ऊपर ही छोड़कर जिसने अपनी सद्बुद्धि को सुरक्षित रखा है, वह वेदवेत्ता पुरुष सुख पूर्वक शान्ति को प्राप्त कर लेता है।"

इसके अतिरिक्त भोक्तृत्व और कर्तृत्व इन दोनों विकारों में कुछ भेद मानना ठीक नहीं है। कर्तृत्व से विलक्षण वह भोक्तृत्व विकार क्या वस्तु है; जिससे पुरुष को केवल भोक्ता मानते हो, कर्ता नहीं मानते और प्रधान कर्ता ही है, भोक्ता नहीं।

---

१. विरुद्धमानेति—अत्र विरुध्यमानेति युक्तः पाठः। यथाश्रुते तु विरुद्धं मानमर्थश्च तद्दर्शित्वादिति विग्रहः।

ननूक्तं पुरुषश्चिन्मात्र एव स च स्वात्मस्थो विक्रियते भुञ्जानो न तत्त्वान्तरपरिणामेन। प्रधानं तु तत्त्वान्तरपरिणामेन विक्रियतेऽतोऽनेकमशुद्धमचेतनं [1]चेत्यादिधर्मवत्तद्विपरीतः पुरुषः। नासौ विशेषो वाङ्मात्रत्वात्, प्राग्भोगोत्पत्तेः केवलचिन्मात्रस्य पुरुषस्य भोक्तृत्वं नाम विशेषो भोगोत्पत्तिकाले चेज्जायते निवृत्ते च भोगे पुनस्तद्विशेषादपेतश्चिन्मात्र एव भवतीति चेन्महदाद्याकारेण च परिणम्य [2]प्रधानं ततोऽपेत्य पुनः प्रधानं स्वरूपेणावतिष्ठत इत्यस्यां कल्पनायां न कश्चिद्विशेष इति वाङ्मात्रेण प्रधानपुरुषयो[3]र्विशिष्टविक्रिया कल्प्यते।

अथ भोगकालेऽपि चिन्मात्र एव प्राग्वत्पुरुष इति चेन्न, तर्हि परमार्थतो भोगः पुरुषस्य।

आशयमविद्वाञ्शङ्कावसरोक्तं विशेषं शङ्कते—नन्विति। स्वात्मस्थो विक्रियते इति। चिद्रूपेण विक्रियत इत्यर्थः। तत्त्वान्तरेति। अनेकत्वाशुद्ध्याद्यियुक्तस्वविलक्षणमहदादिरूपेणेत्यर्थः। पुरुषस्य चिद्रूपेणैव परिणामान्न रूपान्तरापत्तिरशुद्ध्यादिकं वा। प्रधानस्य त्वाकारान्तरेण परिणामात्पूर्वरूपत्यागादशुद्ध्यादिकं स्यादित्यर्थः। किंचिद्रूपेण परिणाम [4]आगन्तुको वा न वा? आद्य आगन्तुकविशेषवत्त्वेनानित्यत्वाद्यापत्त्या प्रधानादविशेषः, भोगानन्तरं पुनः स्वरूपावस्थानान्नानित्यत्वादिदोषश्चेत्प्रधानस्यापि प्रलये तथात्वाङ्गीकारान्न तयोर्विशेषः स्यादिति दूषयति—नासाविति। सग्रहवाक्यं विवृणोति—प्रागिति। अस्यां कल्पनायामिति। चिद्रूपेण तत्त्वान्तररूपेण विक्रियाकल्पनायामपि विचार्यमाणेऽर्थतो न कश्चिदपि विशेषो लभ्यत इति तयोर्विशिष्टविक्रियेति वाङ्मात्रेणैव कल्प्यत उच्यत इत्यर्थः।

द्वितीयं शङ्कते—अथेति। चिन्मात्र एवेति। न त्वागन्तुकं रूपान्तरमित्यर्थः। तर्हि कर्मजन्यः कादाचित्को भोगो न सिध्येदित्याह—न तर्हीति। एतद्दोषपरिहारायाऽऽगन्तुकं परिणाममङ्गीकृत्य

पूर्वपक्ष :—यह पहले कह आये हैं कि चिन्मात्रस्वरूप रहता हुआ ही पुरुष भोग करते समय अपने आप में स्थित रहकर भोगरूप विकार को प्राप्त होता है, उसका विकार तत्त्वान्तर परिणाम के द्वारा नहीं होता है। इसके विपरीत प्रधान तत्त्वान्तर परिणामस्वरूप से ही विकृत होता है। अतः वह प्रधान महतत्त्वादि भेद से अनेक, अशुद्ध और अचेतन आदि धर्म से युक्त होता है, पर पुरुष उससे विपरीत स्वभाव वाला है।

सिद्धान्ती :—केवल शब्दमात्र का भेद होने के कारण वह वास्तव में कोई भेद नहीं है। यदि भोग उत्पत्ति से पूर्व केवल चिन्मात्रस्वरूप पुरुष में भोग का उत्पत्ति के समय भोक्तृत्वरूप वैशिष्टय उत्पन्न होता है और भोग हटते ही उस विशेषता के दूर हो जाने पर पुनः वह चिन्मात्र ही रह जाता है। ऐसी स्थिति में प्रधान भी महदादिरूप से परिणत होकर उनसे निवृत्त होते ही पुनः प्रधानरूप से ही स्थित हो जाता है। अतः इस कल्पना में कोई विशेषता न होने के कारण तुमने प्रधान और पुरुष के विशिष्ट विकार की कल्पना केवल शब्दमात्र से ही की है।

---

१. चेत्यादीति—च इत्यादीति च्छेदः। तथा चानेकत्वादिधर्मवदित्यर्थः। चेत्य प्रकाश्य भावप्रधानः प्रयोगस्तथा च प्रकाश्यत्वादिधर्मवदित्यर्थ इति प्राञ्चः। २. प्रधानमित्येक परिणामप्रागभावकालीनप्राधान्यमाह—तदपर तु तद्ध्वंसकालीनतत्त्वं वक्तीत्यूह्यम्। ३. विशिष्टेति—विजातीयेति यावत्। ४. आगन्तुको नैमित्तिको जन्य इति यावत्।

भोगकाले चिन्मात्रस्य विक्रिया परमार्थैव तेन भोगः पुरुषस्येति चेन्न। प्रधानस्यापि भोगकाले विक्रियावत्त्वाद्भोक्तृत्वप्रसङ्गः। चिन्मात्रस्यैव विक्रिया भोक्तृत्वमिति चेदौष्ण्याद्यसाधारणधर्मवतामग्न्यादीनामभोक्तृत्वे हेत्वनुपपत्तिः।

प्रधानपुरुषयोर्द्वयोर्युगपद्भोक्तृत्वमिति चेन्न। प्रधानस्य पारार्थ्यानुपपत्तेः। न हि

भोगकालीनविक्रिया[1]मात्रं भोगः स च पुरुषस्यैव न प्रधानस्येति भोगसदसत्त्वविशेषमात्रेण शङ्कते—भोगकाल इति। तत्रापि किं भोगकालीनविक्रियामात्रं भोग उत तत्कालीनचिन्मात्रगतविक्रिया भोग इति विकल्प्याऽऽद्ये भोगकाले प्रधानस्यापि सुखाद्याकारेण विक्रियावत्त्वाद्भोगः स्यादित्याह—नेति। द्वितीयं शङ्कते—चिन्मात्रस्यैवेति। चिन्मात्रस्यैव विक्रियेत्येवकारेण धर्म्यन्तरगतविक्रियानपेक्षा चैतन्यविक्रिया भोग इत्युच्यते वा चैतन्यमात्रगता तदसाधारणा विक्रिया भोग इति वा। नाऽऽद्यः। सुखादिरूपप्रधानविक्रियां विना भोगासिद्धेः। न द्वितीयः। चैतन्यासाधारणविक्रियैव भोग इत्यत्र हेत्वभावात्स्वासाधारणविक्रिया भोग इति वक्तव्यम्। तथा चातिप्रसङ्गः। सर्वस्यापि स्वासाधारणविक्रियावत्त्वात्। भोगकालीनासाधारणविक्रियावत्त्वं तु प्रधानस्याप्यस्ति। तत्कालीनसुखादिविक्रियावत्त्वादिति दूषयति—औष्ण्येति।

ननु भोगकालीनाऽसाधारणविक्रियैव भोगः। न चाग्न्यादेस्तत्काले नियमेन विक्रियाऽस्ति। न च प्रधानस्यापि प्रसङ्ग[2]इष्टापत्तिरिति शङ्कते—प्रधानेति। भोक्ता हि शेषी भोगश्च शेष उभयोरपि भोक्तृत्वे शेषशेषिभावो न स्यादित्याह—नेति। ननु भोगः[3]सत्त्वगुणप्रधानचेतोरूपेण परिणतप्रकृतेरेव धर्मस्तस्या विक्रियोपपत्तेर्न पुरुषस्य, तस्याविक्रियत्वात्। न च तस्य भोगाभावप्रसङ्गस्तस्य

पूर्वपक्ष :—यदि भोगकाल में भी पुरुष पहले की भाँति चिन्मात्रस्वरूप ही रहता है, ऐसा माना जावे तो?

सिद्धान्ती :—तब तो परमार्थतः पुरुष का भोग सिद्ध नहीं हो सकता।

पूर्वपक्ष :—यदि ऐसा माना जाय कि भोगकाल में जो चिन्मात्र पुरुष का विकार होता है, वह पारमार्थिक है, इससे पुरुष में भोग सिद्ध हो जाता है?

सिद्धान्ती :—ऐसा कहना ठीक नहीं क्योंकि भोगकाल में तो प्रधान भी विकारयुक्त होता है। ऐसी स्थिति में उस प्रधान के भी भोक्तृत्व का प्रसंग आ जायगा। यदि कहो कि भोक्तृत्व चिन्मात्र का ही विकार माना गया है तो उष्णता आदि असाधारण धर्म वाले अग्नि आदि के भोक्तृत्व न मानने में कोई कारण नहीं जान पड़ता है (जैसे पुरुष का असाधारण धर्म चेतनता है, वैसे ही अग्नि का असाधारण धर्म उष्णतादि। अतः उष्णतादि असाधारण धर्म से विशिष्ट अग्नि आदि में भी भोक्तृत्व का प्रसंग आ ही जायगा)।

मध्यस्थ :—यदि प्रधान और पुरुष दोनों में एक साथ भोक्तृत्व माना जाय तो?

सिद्धान्ती :—यह भी ठीक नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर प्रधान में पारार्थ्य असंगत सिद्ध होगा। जैसे एक दूसरे को प्रकाशित करने में दो प्रकाशों का गौण-मुख्यभाव नहीं सिद्ध होता है, वैसे ही दो भोक्ताओं का भी परस्पर गौण-मुख्यभाव सिद्ध नहीं हो सकता।

---

१. मात्रमित्यत्र वत्त्वमिति पाठान्तरम्। २. इष्टापत्तिरिति—अत्र पञ्चम्यन्तपाठो युक्तः। ३. सत्त्वेति—रजसोऽप्युपलक्षण दुःखानुभवस्यापि भोगत्वात्।

भोक्त्रोर्द्वयोरितरेतरगुणप्रधानभाव उपपद्यते प्रकाशयोरिवेतरेतरप्रकाशने । भोगधर्मवति सत्त्वाङ्गिनि चेतसि पुरुषस्य चैतन्यप्रतिबिम्बोदयोऽविक्रियस्य पुरुषस्य भोक्तृत्वमिति चेन्न । पुरुषस्य विशेषाभावे भोक्तृत्वकल्पनानर्थक्यात् ।

भोगरूपश्चेदनर्थः पुरुषस्य नास्ति सदा निर्विशेषत्वात्पुरुषस्य कस्यापनयनार्थं मोक्षसाधनं शास्त्रं प्रणीयतेऽविद्याध्यारोपितानर्थापनयनाय शास्त्रप्रणयनमिति चेत्परमार्थतः पुरुषो भोक्तैव न कर्ता प्रधानं कर्त्रेव न भोक्तृ परमार्थसद्वस्त्वन्तरं पुरुषाच्चेतीयं कल्पनाऽऽगमबाह्या व्यर्था निर्हेतुका चेति नाऽऽदर्तव्या मुमुक्षुभिः ।

एकत्वेऽपि शास्त्रप्रणयनाद्यानर्थक्यमिति चेन्नाभावात् । सत्सु हि शास्त्रप्रणेत्रादिषु

तथाविधचित्तप्रतिबिम्बितत्वमात्रेण भोक्तृत्वव्यपदेश इति शङ्कते—भोगधर्मवतीति । सत्त्वाङ्गिनीति । सत्त्वगुणोऽङ्गी प्रधानं यस्य तस्मिश्चेतसीत्यर्थः । तर्हि चित्तगतभोगेन चैतन्ये विशेषो जायते वा न वेति विकल्प्य न द्वितीय इत्याह—नेति ।

किंचास्मिन्पक्षे स्वकीयशास्त्रप्रणयनं च व्यर्थं स्यादित्याह—भोगरूपश्चेदिति । आद्ये स विशेषः सत्यो वाऽसत्यो वेति विकल्प्य सत्यविशेषवत्त्वे पुरुषस्य विकारित्वं स्यादिति मनसि संनिधायास्याऽऽरोपितविशेषवत्त्वमस्तीत्याद्यं शङ्कते—अविद्येति[1] । अनर्थेति । भोगरूपेत्यर्थः । तर्हि भोक्तृत्वविशेषवत्कर्तृत्वादिविशेषस्य प्रधानादेश्चाऽऽरोपत्वमेवाङ्गीकर्तुं युक्तं नार्धवैशसमस्मदुक्तरीत्या बन्धमोक्षव्यवहारसिद्ध्युपपत्तेः । तथा कल्पनायां प्रयोजनाभावात्प्रमाणाभावात्प्रत्युत सर्वश्रुतिविरोधापत्तेश्चेत्याह—परमार्थत इति । पुरुषाद्वस्त्वन्तरं च प्रधानमित्यन्वयः । उक्तदोषजातं सांख्यस्य मतं मोक्षकामिणा नाऽऽदर्तव्यमिति ज्ञापनार्थमुक्तं न तु द्वेषपक्षपातादित्याशयेनाऽऽह—इति नाऽऽदर्तव्येति ।

आत्मैकत्वपक्षेऽपि निरसनीयबन्धाभावाच्छास्त्रप्रणयनानर्थक्यमिति शङ्कते—एकत्वेऽपीति । किमात्मैकत्वनिश्चयवन्तं प्रति तस्याऽऽनर्थक्यमुच्यते तद्विपरीतं प्रति वेति विकल्प्याऽऽद्यं प्रति प्रणयनाभावादानर्थक्यदोषाभावमाह—नाभावादिति । दोषापादनाभावादित्यर्थः । संग्रहवाक्यं विवृणोति—न

पूर्वपक्ष :—भोग धर्म वाले सत्त्वगुण प्रधान चित्त में चैतन्य के प्रतिबिम्बित का उदय होना ही निर्विकार पुरुष में भोक्तृत्व है, ऐसा माना जाय तो ?

सिद्धान्ती :—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि ऐसा मानने पर पुरुष में कोई विशेषता न होने के कारण उसमें भोक्तृत्व की कल्पना ही निरर्थक हो जायगी । यदि सदा निर्विशेष होने के कारण पुरुष में भोगरूप अनर्थ ही नहीं है तो भला मोक्ष का साधनरूप शास्त्र किस अनर्थ की निवृत्ति के लिये बनाया गया है । यदि कहो कि अविद्या से आरोपित अनर्थ को निवृत्त करने के लिये शास्त्र की रचना हुयी है तो परमार्थतः पुरुष भोक्ता ही है, कर्ता नहीं है और प्रधान कर्ता ही है, भोक्ता नहीं; साथ ही वह प्रधान परमार्थतः पुरुष से भिन्न कोई वस्तु है, ऐसी आगम बाह्य कल्पना निर्हेतुक और व्यर्थ ही है । अतः मुमुक्षुओं द्वारा ऐसी कल्पना आदरणीय नहीं है ।

मध्यस्थ :—परन्तु एकत्व मानने पर भी शास्त्र रचना आदि में निरर्थकता है ही ।

---

१. अविद्येति—अविवेकेति यावत् । २. आरोपत्वमिति—आध्यासिकत्वमिति यावद् । ३. द्वेषपक्षपातादिति—द्वेषाधीनतयेति यावद् ।

तत्फलार्थिषु च शास्त्रस्य प्रणयनमनर्थकं सार्थकं वेति विकल्पना स्यात् । न ह्यात्मैकत्वे शास्त्रप्रणेत्रादयस्ततो भिन्नाः सन्ति तदभाव [1]एवं विकल्पनैवानुपपन्ना । अभ्युपगत आत्मैकत्वे प्रमाणार्थश्चाभ्युपगतो भवता [2]यदात्मैकत्वमभ्युपगच्छता । तदभ्युपगमे च विकल्पानुपपत्तिमाह शास्त्रं "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्" (बृ० ४-५-१५) इत्यादि । शास्त्रप्रणयनाद्युपपत्तिं चाऽऽहान्यत्र परमार्थवस्तुस्वरूपादविद्याविषये, "यत्र हि द्वैतमिव भवति" (बृ० ४-५-१५) इत्यादि विस्तरतो वाजसनेयके ।

अत्र च विभक्ते [3]विद्याविद्ये परापरे इत्यादावेव शास्त्रस्यातो न तार्किक[4]वादभट-

---

ह्यात्मैकत्व इति । निश्चिन इति शेषः । तदभावे शास्त्रप्रणेत्राद्यभाव इयं(एवं) [वि]कल्पनैवार्थवदनर्थकं चे(वे)ति विकल्पनैवानुपपन्नेत्यर्थः । नैवानुपपन्नेति पाठे तु तदभाव इत्यनेनैकत्वनिश्चयाभावाऽभिधीयते। तदानीं निरसनीयबन्धादिसत्त्वादियं कल्पना बन्धनिवृत्त्यर्थं शास्त्रप्रणयनकल्पना नानुपपन्नेति योज्यम् । किंचाऽऽत्मैकत्वनिश्चये जाते तन्निश्चयजनकत्वेन शास्त्रार्थवत्त्वस्य स्वानुभवसिद्धत्वात्तेनेयं शङ्का कर्तुमपि न शक्येत्याह—अभ्युपगत इति । प्रमाणार्थ इति । प्रमाणस्य शास्त्रस्यार्थः प्रयोजनमित्यर्थः । एकत्वनिश्चयवन्तं प्रति शास्त्रानर्थक्यकल्पनाभावः श्रुत्याऽप्युक्त इत्याह—तदभ्युपगमे चेति । अत्राभ्युपगमो निश्चयः । एकत्वनिश्चयाभावदशायां तु निरसनीयारोपितबन्धसत्त्वान्नाऽऽनर्थक्यं तदपि श्रुत्योक्तमित्याह—शास्त्रप्रणयनेति । अनेन द्वितीयकल्पो निरस्तः । श्रुतिगतं यत्रपदं व्याचष्टे—अन्यत्रेति ।

आथर्वणीयमन्त्रोपनिषदि 'द्वे विद्ये वेदितव्ये'(मु. १-१-४)इत्युपक्रम्यापरविद्या ऋग्वेदादिरूपा परा त्वदृश्यत्वादिगुणकप्रत्यस्तमितसर्वद्वैतवस्तुविषयेत्युक्त्या विद्याविद्ययोर्विषयभेदः शास्त्रस्याऽऽदावेव सूचित इत्याह—अत्र चेति । अद्वैतवादे सर्वशङ्कानां श्रुतिप्रामाण्येनैव निरासात्तार्किकोत्प्रेक्षित[5]शङ्काशूकस्यापि

सिद्धान्ती:—यह दोष ठीक नहीं क्योंकि उस समय तो उन शास्त्रादि का भी अभाव हो जाता है। शास्त्र के बनाने वाले आदि तथा उनके फलाकाँक्षियों के रहने पर ही शास्त्र रचना सार्थक है या निरर्थक है, ऐसा विकल्प हो सकता है। आत्मैकत्व सिद्ध हो जाने पर तो शास्त्र प्रणेतादि उस आत्मतत्त्व से भिन्न नहीं रह जाते हैं और उनका अभाव हो जाने पर तो पूर्वोक्त विकल्प बनता ही नहीं ।

इसके अतिरिक्त आत्मैकत्व मान लेने पर जिस आत्मैकत्व के निश्चय करने वाले तुमने उस एकत्व के प्रतिपादक शास्त्र की अर्थवत्ता स्वीकार कर ही ली है, उस एकत्व के निश्चय हो जाने पर भी "जहाँ से सब कुछ आत्मरूप ही हो गया, वहाँ किससे किसको देखे" इत्यादि विकल्प की असम्भावना ही शास्त्र बतलाता है और परमार्थ वस्तु से भिन्न अविद्या विषय में 'जहाँ द्वैत-सा होता है" इत्यादि बृहदारण्यक श्रुति में शास्त्र रचना आदि की युक्ति-युक्तता विस्तार से बतलायी है ।

यहां मुण्डकोपनिषत् के प्रारम्भ में ही परा और अपरारूप विद्या एवं अविद्या का विभाग किया

---

१. इयमिति पाठान्तरम् । २. यदात्मेति—यत आत्मैकत्वमभ्युपगच्छता भवता प्रमाणार्थोऽप्यभ्युपगतो भवति तथा चात्मैकत्वेऽभ्युपगते नैवं विकल्पना युक्तेत्यर्थः । ३. विद्याविद्ये इति—यथा च विद्याविषयेऽद्वैते अविद्याविषये द्वैते च नोक्तविकल्पनोक्तदिशाऽवकाशमासादयतीति भावः । ४. वादस्थाने चाटेति पाठान्तरम्—चाटश्चौरो विश्वासघातकश्च । ५. शङ्काशूकस्येति—शूकोऽस्त्रीश्लक्ष्णतीक्ष्णाग्रे इत्यमरः । श्लक्ष्णं च तीक्ष्णं च तदग्रं चेति विग्रहस्तथा च शङ्कालेशस्यापीति पर्यवस्यतीति ध्येयम् ।

प्रवेशो वेदान्तराजप्रमाणबाहुगुप्त इहात्मैकत्वविषय इति । एतेनाविद्याकृतनामरूपाद्युपाधिकृतानेकशक्तिसाधनकृतभेदवत्त्वाद्ब्रह्मणः सृष्ट्यादिकर्तृत्वे साधनाद्यभावो दोषः प्रत्युक्तो वेदितव्यः परैरुक्त आत्मानर्थकर्तृत्वादिदोषश्च ।

यस्तु दृष्टान्तो राज्ञः सर्वार्थकारिणि [1]कर्तर्युपचाराद्राजा कर्तेति सोऽत्रानुपपन्नः । स ईक्षांचक्र इति श्रुतेर्मुख्यार्थबाधनात्प्रमाणभूतायाः । तत्र हि गौणी कल्पना शब्दस्य यत्र मुख्यार्थो न संभवति । [2]इह त्वचेतनस्य मुक्तबद्धपुरुषविशेषापेक्षया कर्तृकर्मदेशकालनि-

---

नात्र प्रवेश इत्युपसंहरति—अत इति । राजप्रमाणेति । प्रमाणराजेत्यर्थः । राजदन्तादित्वात्परनिपातः । वेदान्तप्रमाणमेव राजेव राजा तद्वाहवस्तदुक्तन्यायास्तैर्गुप्त आत्मैकत्वमेव विषय इव देश इव देशो रक्षणीयत्वात्स तार्किकभटैर्योधैर्न प्रवेश्य इत्यन्वयः । पूर्ववाद्युक्तं दोषं निराकरोति—एतेनेति । उपाधिकृता अनेकाः शक्तयः साधनानि च तत्कृतस्य भेदस्यानेकत्वस्य सत्त्वादित्यर्थः । आत्मेति । आत्मनो योऽनर्थः संसारस्तत्कर्तृत्वमित्यर्थः । आदिशब्देनाऽऽप्तकामत्वेन प्रयोजनापेक्षानुपपत्तिः संगृहीता । [3]कल्पनया स्वव्यतिरिक्तस्य जीवस्य सत्त्वात्तस्य संसारो नाऽऽत्मनः । तदीयकर्मफलदानार्थं चाऽऽप्तकामस्यापि सृष्ट्याद्यदिप्रवृत्तिः संभवति । [4]सर्वव्यवहारस्यापि स्वप्नतुल्यत्वाद्वा स्वप्न इव सर्वमुपपद्यत इति सूत्रभाष्यादावेव [5]परिहृत इत्यर्थः ।

सांख्येन स्वपक्षे पुरुषशब्दस्येक्षणस्य चोपपत्तिरुक्ता तामनूद्य निराकरोति—यस्त्विति । [6]यजमानः 'प्रस्तरः' इत्यादावुपचारो दृष्ट इत्याशङ्क्याऽऽह—तत्र हि गौणीति । प्रधानपक्षे न केवलमीक्षणश्रुत्यनुपपत्तिर्वस्तुतस्तस्य स्रष्टृत्वमपि न संभवतीत्याह—इह त्विति । मुक्तान्वर्जयित्वा बद्धान्प्रत्येव

गया है । अतः वेदान्तरूप राजा के प्रामाणिक बाहुबल से सुरक्षित इस आत्मैकत्वराज्य में तार्किकवाद रूप योद्धाओं का प्रवेश हो नहीं सकता । इससे ब्रह्म के सृष्टि आदि कर्तृत्व में साधनों का अभाव है । ऐसा जो दोष दिया गया था, उसे भी निरस्त जानना चाहिये क्योंकि अविद्याजनित नाम-रूपादि उपाधियों के कारण ब्रह्म अनेक शक्ति और साधन प्रयुक्त भेदों वाला है और इसी प्रतिपादन से वह दोष भी निवृत्त हो जाता है, जो हमारे विपक्षियों ने कहा था कि आत्मा अपना ही अनर्थ कैसे करेगा इत्यादि ।

आपने जो दृष्टान्त दिया था कि राजा के सम्पूर्ण कार्य करने वाले सेवक में भी राजा है, ऐसा औपचारिक प्रयोग देखा जाता है, यह दृष्टान्त यहाँ पर उचित नहीं है क्योंकि ऐसा मानने पर "उसने विचार किया" इस प्रमाण भूता श्रुति का मुख्य अर्थ बाधित हो जाता है, जहाँ मुख्यार्थ का ग्रहण सम्भव न हो, वहाँ ही शब्द की गौणी कल्पना की जाती है । इस प्रसंग में तो मुक्तबद्ध पुरुष भेद

---

१. कर्तरीति—भृत्य इत्यर्थः । राजा कर्तेति भृत्योऽसौ राजेत्यर्थः । २. इह त्विति—प्रकृतवाक्ये तु सर्वज्ञेश्वरमादायेक्षणादिकं मुख्यं संभवतीति भावः । टीकाकृता तु ईश्वरकर्तृत्वपक्षे इत्युत्तरभाष्योक्तिमनुरुध्य प्रधानपक्ष इतीहेति पदं व्याख्यातमित्यवधेयम् । ३. कल्पनयेति—भेदादिविषयकाहार्यज्ञानरूपयेति यावत् । भेदादिज्ञानमनपेक्ष्यापि निद्रयैव द्रष्टुः स्वप्नजनकत्वं निदर्शयन्नाह—सर्वव्यवहारस्येत्यादि । ५. परिहृत इति—यथोक्तो दोष इति शेषः । ६. प्रस्तरो दर्भमुष्टिः ।

स प्राणमसृजत प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः पृथिवीन्द्रियं मनः। अन्नमन्नाद्वीर्यं तपो मन्त्राः कर्म लोका लोकेषु च नाम च ॥४॥

उस पुरुष ने सर्वप्रथम प्राण की रचना की, पुनः प्राण से श्रद्धा, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी, इन्द्रिय, मन और अन्न को बनाया, एवं अन्न से वीर्य रूप बल, (अन्तःकरण शुद्धि के साधन) तप, तप के साधन ऋगादि मन्त्र, अग्निहोत्रादि कर्म और कर्म के फलस्वरूप लोक को तथा लोकों में प्राणियों के देवदत्तादि नाम को उत्पन्न किया ॥४॥

मित्तापेक्षया च बन्धमोक्षादिफलार्था नियता पुरुषं प्रति प्रवृत्तिर्नोपपद्यते। यथोक्तसर्वज्ञेश्वरकर्तृत्वपक्षे तूपपन्ना ॥३॥

ईश्वरेणेव सर्वाधिकारी प्राणः पुरुषेण सृज्यते। कथं ? स पुरुष उक्तप्रकारेणेक्षित्वा सर्वप्राणं हिरण्यगर्भाख्यं सर्वप्राणिकरणा[1]धारमन्तरात्मानमसृजत सृष्टवान्। अतः प्राणाच्छ्रद्धां सर्वप्राणिनां शुभकर्मप्रवृत्तिहेतुभूताम्। ततः कर्मफलोपभोगसाधनाधिष्ठानानि

प्रवृत्तिः [2]कर्तृकर्माद्यपेक्षया बन्धमोक्षादिशब्दितभोगापवर्गार्था व्यवस्थिता प्रवृत्तिर्नोपपद्यत इत्यर्थः। अनेन पुरुषार्थं प्रयोजनमुररीकृत्य प्रधानं प्रवर्तत इति यदुक्तं शङ्कावसरे तन्निरस्तम्। ईश्वरकारणवादे तु न कोऽपि दोष इत्याह—यथोक्तेति ॥३॥

एवं परपक्षं निराकृत्य श्रुतिव्याख्यानं कुर्वन्स प्राणमसृजतेत्यस्य तात्पर्यार्थमाह—ईश्वरेणेवेति। राज्ञेवेत्यर्थः। अक्षरार्थं प्रश्नपूर्वकमाह—कथमिति। हिरण्यगर्भाख्यमिति। हिरण्यगर्भ इत्याख्या येनोपाधिनाऽऽत्मनो भवति तं बुद्ध्यभिन्नं सर्वप्राणं समष्टिप्राणमित्यर्थः। यथाश्रुते 'कस्मिन्नहमुत्क्रान्तः' इत्यादिनाऽऽत्मन उत्क्रान्त्याद्युपाधिसृष्टेः प्रस्तुतत्वाद्धिरण्यगर्भस्य जीवस्यातथात्वादुपक्रमविरोधापत्तेः। हिरण्यगर्भाख्यमित्युक्तिस्त्वात्मनो हिरण्यगर्भादिसंसारिभावोऽप्येतदुपाधिक इति सूचयितुमिति बोध्यम्। तस्य समष्टित्वमाह—सर्वेति। अन्तरात्मानमिति। सर्वस्थूलशरीरान्तरत्वादा[3]त्मबुद्धिगोचरत्वाच्चान्तरात्मा स इत्यर्थः। तत इत्यानन्तर्यार्थेयं पञ्चमी। एवमुत्तरत्रापि। न च भूतकार्यत्वात्प्राणस्य कथं

की अपेक्षा से तथा कर्ता, कर्म, देश, काल और निमित्त को अपेक्षा में पुरुष के लिये अचेतन प्रधान की नियत प्रवृत्ति कहना ठोक नहीं है। इसके विपरीत पूर्वोक्त सर्वज्ञ ईश्वर को जगत् कर्ता मानने के पक्ष में वह सुसंगत ही है ॥३॥

सृष्टि का क्रम

राजा की भाँति पुरुष ने ही सर्वाधिकारी प्राण को बनाया। कैसे ? उस पुरुष ने पूर्वोक्त प्रकार से ईक्षण कर सभी प्राणियों की इन्द्रियों के आधाररूप हिरण्यगर्भ नामक समष्टि प्राणरूप आत्मा को

---

१. आधारमिति—तादात्म्येनाधारमित्यर्थः। समष्टौ व्यष्टेस्तादात्म्यात्। २. कर्तृकर्माद्यपेक्षयेति—कर्मेदमस्य कर्तुरेतद्देशकालभोगार्हमित्येवमपेक्षया जडस्य नियता प्रवृत्तिर्नोपपद्यत इत्यर्थः। ३. आत्मबुद्धीति—अहंबुद्धीत्यर्थः।

कारणभूतानि महाभूतान्यसृजत । खं शब्दगुणम् । वायुं स्वेन स्पर्शेन कारणगुणेन च विशिष्टं द्विगुणम् । तथा ज्योतिः स्वेन रूपेण पूर्वाभ्यां च विशिष्टं त्रिगुणं शब्दस्पर्शाभ्याम् । तथाऽऽपो रसेन गुणेनासाधारणेन पूर्वगुणानुप्रवेशेन च चतुर्गुणाः । तथा गन्धगुणेन पूर्वगुणानुप्रवेशेन च पञ्चगुणा पृथिवी । तैरेव भूतैरारब्धमिन्द्रियं द्विप्रकारं बुद्ध्यर्थं कर्मार्थं च दशसंख्यम् । तस्य चेश्वरमन्तःस्थं संशयसंकल्पलक्षणं मनः । एवं प्राणिनां कार्यं करणं च सृष्ट्वा तत्स्थित्यर्थं व्रीहियवादिलक्षणमन्नम् । ततश्चान्नादद्यमानाद्वीर्यं सामर्थ्यं बलं सर्वकर्मप्रवृत्तिसाधनम् । तद्वीर्यवतां च प्राणिनां तपो विशुद्धिसाधनं संकीर्यमाणानां, मन्त्रास्तपोविशुद्धान्तर्बहिःकरणेभ्यः कर्मसाधनभूता ऋग्यजुःसामाथर्वाङ्गिरसः । ततः कर्माग्निहोत्रादिलक्षणम् । ततो लोकाः

ततः पूर्वकालीनत्वमिति वाच्यम् । सत्यम् । सूक्ष्मभूतसृष्टयनन्तरं प्राणमसृजतेति कल्पनीयत्वात् । न चैतदनन्तरं भूतसृष्ट्युक्तिविरोधशङ्का । तस्याः पञ्चीकृतस्थूलभूतविषयत्वोपपत्तेः । अत एव भोगसाधनाधिष्ठानानीत्युक्तम् । सूक्ष्माणां तथात्वायोगात् । न चैवमपि स्थूलभूतसृष्ट्यनन्तरमिन्द्रियमनःसृष्ट्युक्तिविरोधः । भूतारब्धदेहाधिष्ठितानामेव तेषां कार्यक्षमत्वेन तेषां तदनन्तरत्वोक्तिरिति भावः । भोगसाधनाधिष्ठानत्वं भूतानां तत्कारणत्वादित्याह—कारणभूतानीति । तेषां भूतानां लक्षणतया खं शब्दगुणमित्यादिनाऽसाधारणगुणा उक्ताः । पूर्वपूर्वगुणानुवृत्तिस्तु पूर्वपूर्वस्योत्तरोत्तरोपादानत्वसूचनार्थं स्थौल्यतारतम्यसिद्ध्यर्थं चोक्तेति बोध्यम् । वायुमिति । श्रुतौ वायुरित्यादिप्रथमा द्वितीयार्थाः । प्राणमसृजतेति द्वितीययोपक्रमात् । तैरेवेति । अपञ्चीकृतावस्थायामित्यर्थः । तस्य चेश्वरमिति । नियामकमित्यर्थः । संकीर्यमाणानामिति । अविशुद्धसत्त्वतया पापाचरणेन तैः पापैः संकीर्यमाणानां संकरपरिहाराय

बनाया । उस प्राण से सभी प्राणियों के शुभ कर्मों की प्रवृत्ति को शरणरूपा श्रद्धा को बनाया और उसी से कर्मफल उपभोग के साधन शरीर के कारण महाभूतों की रचना की । सर्वप्रथम शब्दगुणविशिष्ट आकाश को बनाया, फिर अपना गुण, स्पर्श और कारण के शब्द गुण से युक्त ऐसे दो गुणों वाले वायु को रचा, तत्पश्चात् अपना गुण, रूप और पहले के दो गुण शब्द एवं स्पर्श से युक्त ऐसे तीन गुणों वाले तेज को बनाया तथा अपने असाधारण गुण रस के सहित पूर्वगुणों के अनुप्रवेश से चार गुण वाले जल को बनाया और गन्ध गुण के सहित पूर्व गुणों के अनुप्रवेश से पंचगुणविशिष्ट पृथिवी को बनाया । इसी प्रकार विषयों के जानने और कर्म करने के लिये उन भूतों से ही आरब्ध दश संख्या वाले दो प्रकार के इन्द्रिय समुदाय को एवं उसके स्वामी संकल्प-विकल्पादिरूप शरीर मध्यवर्ती मन को बनाया ।

इस प्रकार प्राणियों के विषय और इन्द्रियों को रचना कर उनको स्थिति के लिये परमेश्वर ने व्रीहि-यवादिरूप अन्न को बनाया, फिर खाये हुये उस अन्न से सब प्रकार के कर्मों की प्रवृत्ति के साधनरूप बल को बनाया, तत्पश्चात् वर्ण सांकर्य को प्राप्त होने वाले उन शक्तिशाली प्राणियों की शुद्धि के लिये साधनरूप तप की रचना की, फिर जिनके बाह्य और अन्तःकरणों के तप से शुद्धि हो चुकी है, उन प्राणियों के लिये कर्म के साधन ऋक्, यजुः, साम और अथर्वांगिरस मन्त्रों की रचना की । उसके बाद अग्निहोत्रादि कर्म और कर्मों के फलस्वरूप लोकों को बनाया, फिर उन रचे हुये लोकों में बनाये गये प्राणियों के देवदत्त-यज्ञदत्तादि नाम का रचना की ।

स यथेमा नद्यः स्यन्दमानाः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते तासां नामरूपे समुद्र

जैसे समुद्र की ओर प्रवाहित होने वाली ये नदियाँ समुद्र में पहुँच कर लीन हो जाती हैं अर्थात् उनके नाम रूप नष्ट हो जाते हैं और वे 'समुद्र'—ऐसा कह कर ही पुकारी जाती हैं, इसी प्रकार

कर्मणां फलम् । तेषु च सृष्टानां प्राणिनां नाम च देवदत्तो यज्ञदत्त इत्यादि । एवमेताः कलाः प्राणिनामविद्यादिदोषबीजापेक्षया सृष्टास्तैमिरिकदृष्टिसृष्टा इव द्विचन्द्रमशकमक्षिकाद्याः स्वप्नदृक्सृष्टा इव च सर्वपदार्थाः पुनस्तस्मिन्नेव पुरुषे प्रलीयन्ते हित्वा नामरूपादिविभागम् ॥४॥ कथम् ?—

स दृष्टान्तः । यथा लोक इमा नद्यः स्यन्दमानाः स्रवन्त्यः समुद्रायणाः समुद्रोऽयनं [1]गतिरात्मभावो यासां ताः समुद्रायणाः समुद्रं प्राप्योपगम्यास्तं नामरूपतिरस्कारं

वित्तशुद्धिसाधन तपोऽसृजतेत्यर्थः । फलमिति । लोक्यते भुज्यत इति लोकः फलमित्यर्थः । नाम चेति । [2]ब्राह्मणादिनाम्नोक्तव्यवहारासंकरार्थमित्यर्थः । नन्वीश्वरसृष्टत्वोक्त्या कलानां सत्यत्वमङ्गीकर्तव्यम् । आरोपे शुक्तिरजतादौ सृष्टत्वव्यवहाराभावादित्याशङ्क्याङ्गुल्य[3]वष्टम्भनेत्रमर्दनादिना प्रयत्नेन सृष्टस्य द्विचन्द्रमशकमक्षिकादेरारोपत्वदर्शनात्, 'अथ रथान्र[4]थयोगान्पथः सृजते' इति सृष्टत्वेनोक्तस्वप्नपदार्थस्य च भ्रमत्वदर्शनान्मैवमित्याह—एवमेता इति । अविद्याकामकर्मादिदोषरूपं यद्बीजं तदपेक्षया तत्साधनीकृत्येत्यर्थः । तैमिरिकशब्दो नेत्रेऽङ्गुल्यवष्टम्भाद्युपलक्षणार्थः । एवमात्मप्रतिपत्त्यर्थमध्यारोपमुक्त्वा तदपवादमवतारयति—पुनस्तस्मिन्नेवेति ॥४॥

ग्रामादिवद्गन्तव्यत्वभ्रमं वारयति—आत्मभाव इति । अस्तशब्देन नाशो नाभिधीयते भेदकोपाधिनामरूपयोर्नाशेऽपि स्वरूपस्य समुद्रात्मना विद्यमानत्वादित्याह—नामरूपतिरस्कारमिति ।

इस प्रकार तिमिर रोगी की दृष्टि से रचे गये द्विचन्द्र की भाँति मच्छर और मक्षिकादि को बनाया । स्वप्नद्रष्टा के बनाये हुये स्वप्नदृश्य पदार्थों की भाँति अविद्या आदि दोषरूप वाले बीज की अपेक्षा से रची गयी ये कलायें अपने नाम-रूपादि विभागों को छोड़कर (प्रलय के समय अपने कारण) उस पुरुष में ही लीन हो जाते हैं ॥४॥

समुद्र के समान सम्पूर्ण जगत् का आश्रय परमात्मा है

इस प्रकार वह दृष्टान्त ऐसा है जैसे निरन्तर प्रवाहित होने वाली समुद्र ही जिनका अयन है, ऐसी समुद्रायण नदियाँ लोक में समुद्र को प्राप्त होकर नाम-रूप के तिरस्कारात्मक अदर्शन को प्राप्त

---

१. गतिरात्मभाव इति—तादात्म्येन गम्य इति यावत् । २. भाष्यस्थादिशब्देन ब्राह्मणादिनामगृहीत्वा तत्सृष्टेः प्रयोजनमाह—ब्राह्मणादिनाम्नेति । ब्राह्मणादिनाम्ना उक्तः—'कृतो यो व्यवहारो ब्राह्मणो बृहस्पतिसवेन यजेत'इत्येवमादिलक्षणस्तत्र क्षत्रियादिप्रसक्त्यात्मकसंकरपरिहारार्थमित्यर्थः । अत्रेत्यादिना देवदत्तादिनामग्रहस्तद्व्यवहारे यज्ञदत्तादिसंकरपरिहारः फलमिति भावः । ३. अवष्टम्भः संयोगविशेषः । ४. रथयोगानिति—हयानित्यर्थः ।

इत्येवं प्रोच्यते। एवमेवास्य परिद्रष्टुरिमाः षोडश-कलाः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्यास्तं गच्छन्ति भिद्येते चाऽऽसां नामरूपे पुरुष इत्येवं प्रोच्यते स एषो-ऽकलोऽमृतो भवति तदेष श्लोकः ॥५॥

सर्व द्रष्टा को सर्वाधिष्ठान पुरुष में लीन होने वाली ये सोलह कलाएँ उस पुरुष को प्राप्त कर लीन हो जाती हैं। उन कलाओं के नाम रूप नष्ट हो जाते हैं और वे पुरुष ऐसा कह कर पुकारी जाती हैं। ऐसा जानने वाला वह विद्वान् भी कलाहीन और अमर हो जाता है। इसी सम्बन्ध में यह अग्रिम श्लोक प्रसिद्ध है ॥५॥

गच्छन्ति। [1]तासां चास्तं गतानां भिद्येते विनश्यतो नामरूपे गङ्गायमुनेत्यादिलक्षणे। तद्भेदे समुद्र इत्येवं प्रोच्यते तद्वस्तूदकलक्षणमेवं यथाऽयं दृष्टान्तः। उक्त लक्षणस्य प्रकृत-स्यास्य पुरुषस्य परिद्रष्टुः परि समन्ताद्द्रष्टुर्दर्शनस्य कर्तुः स्वरूपभूतस्य यथाऽर्कः स्वात्म-प्रकाशस्य कर्ता सर्वतस्तद्वदिमाः षोडशकलाः प्राणाद्या उक्ताः कलाः पुरुषायणा नदीना-

---

[2]पूर्वरूपतिरस्कारमित्यर्थः। तद्वस्त्विवति। नामरूपनाशानन्तरं परिशिष्टमुदकलक्षणं वस्तु समुद्र इत्ये-वोच्यत इत्यन्वयः। [3]पुरुषस्येति कर्मणि षष्ठी। पुरुषं स्वात्मरूपं परितः सर्वं स्वरूपत्वेन पश्यत इत्यर्थः। द्रष्टुरित्युक्त [4]आगन्तुकस्य दर्शनस्य कर्ता प्रतीयत इत्यत आह—दर्शनस्य कर्तुः स्वरूपभूतस्येति। स्वरूपत्वे दर्शनस्य तत्र कर्तृत्वानुपपत्तेस्तदर्थकतृच्प्रत्ययविरोध इत्याशङ्क्याऽऽर्कः सर्वतः स्वप्रकाशक इत्यत्र यथा कर्त्रर्थकस्य प्रत्ययस्यो[5]पचरितत्वं तद्वदिहापीत्याह—यथाऽर्क इति। नदीनामिवेति। इवशब्दस्त[6]था-

---

हो जाती हैं और उन अस्त हुयी नदियों के वे गंगा, यमुनादि नाम और रूप नष्ट हो जाते हैं और समुद्र से अभेद हो जाने के कारण वह जलमय वस्तु समुद्र इस नाम से ही पुकारी जाती हैं, जैसा यह दृष्टान्त है। इसी प्रकार उपर्युक्त लक्षणों से युक्त परिद्रष्टा पुरुष की ये प्राणादि उपर्युक्त कलायें (पुरुष से उत्पन्न होकर उसी में लीन हो जाती हैं) जैसे सूर्य सब ओर अपने स्वरूपभूत प्रकाश का कर्ता है,

---

१. उक्तं विशदयति—तासां चेत्यादिना। २. उदकत्वरूपेण समुद्रेऽपि सत्त्वादाह—पूर्वरूपेति। श्वैत्यनैल्यादि-विशिष्टरूपेत्यर्थः। ३. पुरुषस्येति कर्मणि षष्ठीति—परिद्रष्टुरित्यस्य कर्मपुरुषस्येतीत्यर्थः। ततो व्याचष्टे पुरुषं स्वात्मरूपमित्यादि। वस्तुतस्तु अस्येत्यस्य व्याख्यानं पुरुषस्येति परिद्रष्टुरस्येति च समानाधिकरणे षष्ठ्यौ द्रष्टृत्वं चात्र दर्शनात्मकत्वमेव स्वरूपदर्शनं च निर्विषयमेव तदेतत्सर्वमनुसंधायैवैतदुक्तमित्यवधेयम्। ४. आगन्तुकस्येति—कर्तृजन्यत्वात्क्रियाया इति भावः। ५. उपचरितत्वमिति—अव्यवधानापादकत्वरूप-कर्तृसादृश्यप्रयुक्तत्वमिति यावत्। ६. तथाशब्दार्थ इति—यथाशब्दार्थसहिततथाशब्दार्थ इत्यर्थः। तथा च व्याचष्टे—यथेत्यादि।

अरा इव रथनाभौ कला यस्मिन्प्रतिष्ठिताः। तं वेद्यं

जैसे रथ की नाभि में अरे लगे रहते हैं, वैसे ही जिसमें उक्त सब कलाएँ स्थित रहती हैं (अर्थात् उनकी उत्पत्ति स्थिति और लयका एक मात्र आधार वह पुरुष ही है, उस ज्ञातव्य पुरुष को

मिव समुद्रः पुरुषोऽयनमा[1]त्मभावगमनं यासां कलानां ताः पुरुषायणाः पुरुषं प्राप्य पुरुषात्मभावमुपगम्य तथैवास्तं गच्छन्ति । भिद्येते चाऽऽसां नामरूपे कलानां प्राणाद्याख्या रूपं च यथास्वम् । भेदे च नामरूपयोर्यदनष्टं तत्त्वं पुरुष इत्येवं प्रोच्यते ब्रह्मविद्भिः । य एवं विद्वान्गुरुणा [2]प्रदर्शितकलाप्रलयमार्गः स एष विद्यया प्रविलापितास्वविद्याकामकर्मजनितासु प्राणादिकलास्वकलोऽविद्याकृतकलानिमित्तो हि मृत्युस्तदपगमेऽकलत्वादेवामृतो भवति, तदेतस्मिन्नर्थ एष श्लोकः ॥५॥

अरा रथचक्रपरिवारा इव रथनाभौ रथचक्रस्य नाभौ यथाप्रवेशितास्तदाश्रया

शब्दार्थे । यथा नदीनां समुद्रोऽयनं तथा पुरुषोऽयनमित्यन्वयः । अस्तगमनस्वरूपमाह—भिद्येते इति । नामरूपभेद एवास्तगमनमिहेत्यर्थः । यथास्वमिति । यस्य यत्स्वरूपं प्राणाद्यात्मकं तदपि भिद्यत इत्यन्वयः । पुरुष इत्येवं प्रोच्यत इत्यस्यार्थमाह—भेदे चेति । यदनष्टमिति । [3]कलानां हि रूपमारोप्याधिष्ठानोभयात्मकं सत्यानृतमिथुनरूपं, तत्राऽऽरोप्यस्य नामरूपात्मकस्य भेदेऽधिष्ठानात्मकं रूपं पुरुषात्मनोच्यत इत्यर्थः । यथा समुद्रस्वरूपभूतं जलं मेघैराकृष्याभिवृष्टं गङ्गादिनामरूपोपाधिना समुद्राद्भिन्नमिव व्यवह्रियमाणं तदुपाधिविगमे समुद्रस्वरूपमेव प्रतिपद्यत एवमविद्याकृतनामरूपोपाधिवशादात्मनो भिन्नमिव स्थितं सर्वं जगद्विद्ययाऽविद्याकृतनामरूपविगमे ब्रह्ममात्रतयाऽवशिष्यत इत्यर्थः । एवं प्राणादिकलोपाधिक आत्मन उत्क्रमणादिशब्दितमरणादिव्यवहार इत्युक्तेः प्रयोजनं प्राणादिनिवृत्तावुत्क्रमणादिसर्वसंसारधर्मरहितात्मस्वरूपावस्थानरूपं दर्शयितुं स एष इति वाक्यं व्याचष्टे—य एवं विद्वानित्यादिना ॥५॥

परिवारा इति । नाभेः परितो नाभौ नेम्यां च प्रोतास्तिर्यक्काष्ठविशेषा इत्यर्थः । यथा-

---

वैसे ही सब ओर दर्शन का कर्ता प्रकृत पुरुष है। इसीलिये इसे परिद्रष्टा कहते हैं। जिनका अयन अर्थात् आत्मभाव प्राप्ति का स्थान वह पुरुष ही है; उन्हें पुरुषायण कहते हैं, जैसे नदियों को समुद्रायण कहा जाता है। जैसे समुद्र में नदियां लीन हो जाती हैं, ऐसा ही ये पुरुषायण पूर्वोक्त कलायें उस पुरुष को प्राप्त कर लीन हो जाती हैं। फिर तो इन कलाओं के प्राणादि नाम और अपने-अपने विभिन्न रूप नष्ट ही हो जाते हैं। इस प्रकार नाम-रूप के नष्ट हो जाने पर भी जिसका नाश नहीं होता। उस तत्त्व को ब्रह्मवेत्ता "पुरुष" ऐसा कहकर पुकारते हैं। इस प्रकार जिसे आचार्य ने कलाओं के प्रलय का मार्ग दिखला दिया है, ऐसा पुरुष तत्त्ववेत्ता कहा गया है। वह उस विद्या के द्वारा अविद्या, काम और कर्मजनित प्राणादि कलाओं के लय कर दिये जाने पर कलारहित हो जाता है। मृत्यु भी

---

१. आत्मभावगमनमिति—आत्मत्वेन तादात्म्येन गन्तव्य इति यावत् । २. प्रदर्शितेति—उपदिष्टकलाविलयोपाय इत्यर्थः। स चोपायस्तत्त्वज्ञानमेव यत आह—विद्ययेति । ३. यदनष्टमित्यन्तोक्तेरैकार्थ्यसंगमादाह—कलानां हीत्यादि ।

पुरुषं वेद यथा मा वो मृत्युः परिव्यथा इति ॥६॥
तान्होवाचैतावदेवाहमेतत्परं ब्रह्म वेद । नातः परम-स्तीति ॥७॥

तुम जानो । हे शिष्य ! जैसे तुम्हें मृत्यु सब ओर से व्यथित न करे, उसका साधन एक मात्र कलाओं के अधिष्ठान तत्त्व का अवबोध ही है ॥ ६॥

उन शिष्यों को (इस प्रकार उपदेश देकर पिप्लाद मुनि ने) उनसे कहा—उस ज्ञातव्य परब्रह्म को मैं इतना ही जानता हूँ, इससे अधिक कुछ भी ज्ञातव्य नहीं है ॥७॥

भवन्ति यथा तथेत्यर्थः । कलाः प्राणाद्या यस्मिन्पुरुषे प्रतिष्ठिता उत्पत्तिस्थितिलयकालेषु तं पुरुषं कलानामात्मभूतं वेद्यं वेदनीयं पूर्णत्वात्पुरुषं पुरि शयनाद्वा वेद [2]जानीयात् । यथा हे शिष्या मा वो युष्मान्मृत्युः परिव्यथा मा परिव्यथयतु । [3]न चेद्विज्ञायेत पुरुषो मृत्यु-निमित्तां व्यथामापन्ना दुःखिन एव यूयं स्थ । अतस्तन्मा भूद्युष्माकमित्यभिप्रायः ॥६॥

तानेवमनुशिष्य शिष्यांस्तान्होवाच पिप्पलादः किलैतावदेव वेद्यं परं ब्रह्म वेद विजानाम्यहमेतत् । नातोऽस्मात्परमस्ति प्रकृष्टतरं वेदितव्यमित्येवमुक्तवाञ्शिष्याणाम-

---

प्रवेशिता इति । यथावत्सम्यक्प्रवेशिता इत्यर्थः । माङोऽर्थं व्यतिरेकप्रदर्शनेन स्पष्टयति--न चेदिति ॥६॥
शिष्याणां कृतार्थताबुद्धिजननार्थं तानित्यादि वाक्यं व्याचष्टे—तानेवमिति ॥७॥

अविद्याजनित कलाओं के कारण ही होती है । इसीलिये उनकी निवृत्ति हो जाने पर वह पुरुष निष्कल हो जाने के कारण हो अमर हो जाता है । इस विषय में यह प्रसिद्ध श्लोक है ॥५॥

मरणदुःख की निवृत्ति में ब्रह्मज्ञान का उपयोग

जैसे रथ के पहिये को नाभि में रथचक्र परिवार रूप अरे आश्रित रहते हैं, वैसे ही जिस पुरुष में प्राणादि कलायें अपनी उत्पत्ति, स्थिति और लय के समय स्थित रहती हैं । कलाओं के आत्मभूत उस ज्ञातव्य पुरुष को जानो । शरीर एवं ब्रह्माण्ड रूप पुर में शयन करने के कारण उसे पुरुष कहते हैं । हे शिष्यों ! उसे जान लेने पर तुम्हें मृत्यु सब ओर से व्यथित न करे, यदि तुमने उस पुरुष को नहीं जाना तो तुम मृत्यु निमित्तक व्यथा को प्राप्त होकर अवश्य दुःखी होओगे । अतः तुम्हें वह दुःख न हो, यही मेरे कहने का अभिप्राय है ॥६॥

उपसंहार

उन शिष्यों को इस प्रकार का उपदेश देकर पिप्पलाद मुनि ने उनसे कहा—उस ज्ञातव्य परब्रह्म को मैं इतना ही जानता हूँ कि इससे उत्कृष्टतर और कोई ज्ञातव्य नहीं है, अभी कुछ जानना

---

१. वेद यथा—इत्येकं वा पदं वेदयतेत्यर्थकं छान्दसमित्यवगन्तव्यम् । २. वेदेति लेटि रूपमित्यभि-प्रायेनाह—जानीयादिति । मुमुक्षुरिति शेषः । ३. न चेदित्यादि—पुरुषवेदनेन कलाप्रयुक्तमृत्युव्यथाऽभावं वदन् कलानामात्मन्यध्यस्तत्वमावेदयति—अध्यस्तस्यैवाधिष्ठानज्ञानेन निवृत्तिसंभवादित्यवधेयम् ।

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्याया: परं पारं तारयसीति । नमः परमऋषिभ्यो नमः परमऋषिभ्यः ॥८॥

तब (गुरु से उपदेश पाये हुए) उन शिष्यों ने विद्यादान की अन्य कोई प्रतिक्रिया न देखकर उनका पूजा करते हुए कहा कि आप तो हमारे पिता हैं, जिन्होंने (विद्यारूप नौका के द्वारा) हमें अविद्या और उसके कार्य से पार कर दिया है। अतः आप परमर्षि को हमारा बार-बार नमस्कार है। इस मन्त्र में द्विरुक्ति आदर दिखलाने के लिये है ॥८॥

॥ इति षष्ठः प्रश्नः ॥

॥ इति प्रश्नोपनिषत्समाप्ता ॥

विदितशेषास्तित्वाशङ्कानिवृत्तये कृतार्थबुद्धिजननार्थं च ॥७॥

ततस्ते शिष्या गुरुणाऽनुशिष्टास्तं गुरुं कृतार्थाः सन्तो विद्यानिष्क्रयमपश्यन्तः किं कृतवन्त इत्युच्यते—अर्चयन्तः पूजयन्तः पादयोः पुष्पाञ्जलिप्रकिरणेन[1] प्रणिपातेन च शिरसा, किम्, ऊचुरित्याह—त्वं हि नोऽस्माकं पिता ब्रह्मशरीरस्य विद्यया जनयितृत्वान्नित्यस्याजरामरस्याभयस्य । यस्त्वमेवास्माकमविद्याया विपरीतज्ञानाज्जन्मजरामरणरोगदुःखादिग्रहादविद्यामहोदधेर्विद्याप्लवेन परमपुनरावृत्तिलक्षणं मोक्षाख्यं महोदधेरिव

प्रकिरणेनेति । प्रक्षेपेणेत्यर्थः । अतः पितृत्वं तवेति ।

"जनकश्चोपनेता च यश्च विद्यां प्रयच्छति ।
अन्नदाता भयत्राता पञ्चैते पितरः स्मृताः" ॥

इति स्मृतेरित्यर्थः । योऽस्माकमितिहेतूक्तेस्तात्पर्यं वदन्पितृत्वोक्तिमात्रेण विद्यानिष्क्रयार्थं किं

शेष रह गया है। ऐसी शिष्यों की आशंका की निवृत्ति एवं उनमें कृतार्थ बुद्धि उत्पन्न करने के लिये पिप्लाद मुनि ने उनसे इस प्रकार कहा ॥७॥

आचार्य की वन्दना

तत्पश्चात् गुरु से उपदेश प्राप्त किए हुये एवं कृतार्थ उन शिष्यों ने उस विद्यादान का कोई निष्कर्ष न देखकर क्या किया, इसे बतलाते हैं। उन्होंने आचार्य के चरणों में पुष्पाञ्जलि प्रदान रूप अर्चन किया एवं शिर झुकाकर प्रणाम करके उनका पूजन करते हुये कहा। क्या कहा—इसे कहते हैं। विद्या के द्वारा हमारे नित्य अजर, अमर एवं अभयरूप ब्रह्म शरीर के जनक होने के कारण आप हमारे पिता हैं (इतना ही नहीं बल्कि) जन्म, जरा, मरण, रोग-दुखादि ग्राहों के कारण जो अपार महा-

---

१. प्रकिरणेनेति टुवम उदगिरण इति वदित्त्वं पृषोदरादित्वादिति बोध्यम् ।

ॐ भद्रं कर्णेभिरिति शान्तिः ॥

इत्यथर्ववेदीयप्रश्नोपनिषदि षष्ठः प्रश्नः ॥६॥

इत्यथर्ववेदीया प्रश्नोपनिषत्समाप्ता ॥

पारं तारयस्य[1]स्मानित्यतः पितृत्वं तवास्मान्प्रत्युपपन्नमितरस्मात् । इतरोऽपि हि पिता शरीरमात्रं जनयति तथाऽपि स प्रपूज्यतमो लोके किमु वक्तव्यमात्यन्तिकाभयदातुरित्यभिप्रायः । नमः परमऋषिभ्यो ब्रह्मविद्यासंप्रदायकर्तृभ्यो नमः परमऋषिभ्य इति द्विर्वचनमादरार्थम् ॥८॥

इति प्रश्नोपनिषदि षष्ठः प्रश्नः ॥६॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य-श्रीमद्गोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छंकरभगवत्कृतं प्रश्नोपनिषद्भाष्यं समाप्तिमगमत् ॥

दत्तमित्यपेक्षायां स्वशरीरमेव परिचारकतया दासभावेन गुरवे दत्तमित्याह—इतरस्मादिति । [2]पितृत्वादेव पूज्यतरत्वं परिचार्यत्वं स्वामित्वं(?) [3]किमु वक्तव्यमित्यर्थः । अत एव वाजसनेयके मां चापि सह दास्यायेतीत्युक्तमिति भावः ॥८॥

इत्यानन्दज्ञानविरचितप्रश्नोपनिषद्भाष्यटीकायां षष्ठः प्रश्नः ॥४॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीमदानन्दज्ञानविरचिताऽऽथर्वण-
प्रश्नोपनिषद्भाष्यटीका समाप्ता ।

सागर के पल्ले पार जाने के समान अपुनरावृत्तिरूप मोक्ष नामक दूसरे छोर पर पहुँचा दिया है। अतः जन्मदाता पिता की अपेक्षा भी आप में श्रेष्ठ पितृत्व युक्ति-युक्त सिद्ध है क्योंकि दूसरा पिता भी केवल शरीर को ही उत्पन्न करता है। फिर भी वह लोक में सबसे अधिक पूज्य होता है। फिर भला आत्यन्तिक अभय देने वाले आप आचार्यों के पूजनीयत्व के सम्बन्ध में तो कहना ही क्या है। अतः ब्रह्मविद्या सम्प्रदाय के प्रवर्तक परमर्षि को नमस्कार हो। यहाँ पर "नमः परमऋषिभ्यः" इस वाक्य को दो बार आवृत्ति आदर दिखलाने के लिये है ॥८॥

कैलासपीठाधीश्वर आचार्य महामण्डलेश्वर श्रीमत्स्वामिविद्यानन्दगिरिजी महाराजद्वारा
विरचिता 'विद्यानन्दीमिताक्षरा' हिन्दी व्याख्या समाप्ता ।

※ श्रीशंकरः प्रीयताम् ※

---

१. अस्माकमिति षष्ठ्यन्तं द्वितीयान्तत्वेन परिणमय्याह—अस्मानिति । २. पितृत्वादेवेति—शरीरमात्रजनयितृत्वादेवेत्यर्थः । ३. किमु वक्तव्यमित्यनन्तरमात्यन्तिकाभयदातृत्वे त्विति द्रष्टव्यम् ।

गिरिणा विष्णुदेवेन पठित्वैव गुरोर्मुखात् ।
टिप्पणं चात्र विन्यासि स्वमनःशुद्धये परम् ॥

श्रीमन्महामण्डलेश्वरस्वामिगोविन्दानन्दगिरिपादशिष्यविद्यावाचस्पति-
श्रीमन्महामण्डलेश्वरस्वामिविष्णुदेवानन्दगिरिविरचिता
गोविन्दप्रसादिनीटिप्पणीसमाप्तिङ्गता ।

इति सटिप्पणटीकाद्वयसंवलितशांकरभाष्यसमेता प्रश्नोपनिषत् ।